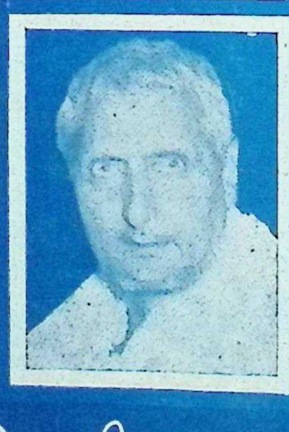
रवीन्द्र कविता कानन



सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

रवीन्द्र-कविता-कानन

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

प्रकाशक
ओमप्रकाश बेरी,
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बा० नं० ७०,
ज्ञानवापी, बनारस सिटी ।

संशोधित तथा परिवर्द्धित जन-संस्करण
दिसम्बर, १९५४

मूल्य : ।।।≡)।।

मुद्रक
श्री कृष्णचन्द्र बेरी,
विद्यामन्दिर प्रेस लि०,
मानमन्दिर, बनारस सिटी ।

निवेदन

प्रं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आधुनिक हिन्दी कविता के गौरव हैं। गद्यकार के रूप में उनका अपना विशिष्ट मौलिक स्थान है। हम इस बात में अत्यन्त गौरव का अनुभव करते हैं कि उनकी सर्वप्रथम साहित्यिक गद्य रचना हमारे यहां से प्रकाशित हुई। उससे भी अधिक गौरव हम इस बात का करते हैं कि वह रचना हमारे स्थान को पवित्र कर उनके जैसे ऋषि ने प्रस्तुत की।

यद्यपि इस रचना की चर्चा बहुत दिनों से सुन पड़ती थी, किन्तु यह कहीं दीख नहीं पड़ती थी। निराला जी जैसे साहित्यकार की रचना किसी प्रकाशक के लिये गौरव की बात हो सकती है। हमारी यह हार्दिक इच्छा रही कि हम इस रचना को जो निराला जी की पहली गद्य रचना है हिन्दी जगत् के सम्मुख इस रूप में प्रस्तुत करें कि सब तक पहुँच सके। पहले संस्करण में इसका मूल्य दो रुपया था। दूसरे संस्करण में परिशिष्ट बढ़ा दिया गया है, तथा इसका मूल्य भी पहले संस्करण के, जो अत्यन्त मन्दी में हुआ था, आधे से भी कम रखा गया है। हिन्दी में निराला जी की सेवा जो महत्ता रखती है वह किसी से छिपी नहीं है। रवीन्द्रनाथ को उस युग में समझाने का हिन्दी जगत् को उन्होंने सर्वप्रथम सफल प्रयत्न किया था। हम इस कृति का दूसरा जन-सुलभ संस्करण प्रकाशित कर गौरव का अनुभव करते हैं। आशा ही नहीं विश्वास है कि हिन्दी की अमूल्य सम्पत्ति के प्रकाशन से हिन्दी का भला ही होगा। परिशिष्ट के लिये डा० महादेव साहा के हम हृदय से अनुगृहीत हैं।

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

प्रकाशकका वक्तव्य[1]

बहुत दिनोंसे मेरी प्रवल इच्छा थी कि विश्व-कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी चुनी हुई जगत-प्रसिद्ध कविताओंका रसास्वादन हिन्दी—पाठकोंको भी कराऊं। बहुत दिनों तक मेरी यह इच्छा पूरी न हुई। जब तक कोई ऐसा प्रतिभाशाली लेखक न मिलता जो रविबाबूके भावोंको अच्छी तरह समझ कर हिन्दीभाषा-भाषियोंको उनकी चमत्कार पूर्ण कविताओंका अर्थ समझाता तब तक मेरी इस इच्छाका पूर्ण होना कठिन ही था। परन्तु जिस कामको मनुष्य करना विचार लेता है, उसमें दैवी सहायता भी अवश्य प्राप्त हो जाती है। एक दिन इसी विषय-पर श्रीयुक्त पं० सूर्यकान्तजी त्रिपाठी "निराला" से मेरी बात-चीत हुई। मैंने रविबाबूके काव्य विषयका उनमें बड़ा भारी ज्ञान पाया। बस फिर क्या था, मैंने उनसे अनुरोध किया कि आप एक ऐसा ग्रन्थ लिखें जिसमें विश्व-कविकी सब प्रकारकी सुन्दर और उपकारी कविताओंपर आलोचना हो ताकि उनके भावोंको हिन्दीके पाठक अच्छी तरह समझ सकें। उन्होंने मेरे इस अनुरोधको स्वीकार कर लिया, ोले "यह काम शीघ्र न होगा, इसलिये मैं चाहता हूँ आपके यहाँ मासिक वेतनपर रहकर इस ग्रन्थका सम्पादन करूँ।" मैंने सहर्ष उनकी यह बात मान ली और उन्होंने इस ग्रन्थ-रत्नके लिखनेमें हाथ लगा दिया।

श्री पं० सूर्यकान्तजी त्रिपाठीने इस ग्रन्थका बड़ी सावधानीके साथ, जैसा मैं चाहता था वैसा ही, सम्पादन किया। मुझे इस ग्रन्थकी एक-एक पंक्ति साहित्य-रससे भरी हुई प्रतीत हुई। इस ग्रन्थके समाप्त होने पर यह निश्चय हुआ कि विश्व-कविकी संक्षिप्त जीवनी भी इसके आगे अवश्य लगायी जाये। उसमें भी हाथ लग गया। उस समय विश्व-कवि भारतमें नहीं थे, इसलिये उनकी जीवन-घटनाओंको संग्रह करनेमें पं० सूर्यकान्तजी तथा मुझे बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। बहुत खोजनेपर भी बंग-साहित्यमें उनकी कोई जीवनी या जीवनकी

---

१. प्रथम संस्करण से।

सिलसिलेवार घटनाएँ हम लोगोंको प्राप्त न हो सकीं। तब हम लोगोंने मिलकर उनके कुटुम्बियोंसे जोड़ासाकूवाले भवनमें बातें पूछनी शुरू कीं। जिस प्रकार उन लोगोंसे नोट मिले, उस प्रकार पण्डितजीने उन्हें लिपिबद्ध करना आरम्भ कर दिया, परन्तु जबतक किसी कामका समय नहीं आता तबतक वह किसी प्रकार भी पूरा नहीं होता, चाहे कितना भी उद्योग किया जाय।

अतः बहुत खोज-ढूँढ़ करनेपर भी पण्डितजीको उनके विषयके पूरे नोट नहीं प्राप्त हुए। अब उन्होंने बंग-साहित्यके मासिक पत्रोंकी फाइलें टटोलकर मसाला संग्रह करना विचारा। इस कार्यमें उन्हें बहुत दिन लग गये और उन्हें बाहर जानेके लिये लाचार होना पड़ा।

वह इसे लिखते-लिखते ही बाहर चले गये। तबसे उनको इस जीवनीके पूर्ण करनेका मौका ही नहीं मिला। उसी थोड़ेसे कामके लिये इस ग्रन्थका प्रकाशन सवा साल रुका रहा। अन्तमें मैंने अपने परम मित्र श्री पण्डित नरोत्तम जी व्याससे जीवनीका शेषांश पूर्ण करनेका अनुरोध किया। उनपर उस समय कामका बहुत ही बोझ था, तथापि उन्होंने ग्रन्थका प्रकाशन रुका देखकर, उसे किसी प्रकार पूरा कर दिया। इसके लिये मैं अपने मित्रका पूरा आभारी हूँ।

मेरी रायमें यह ग्रन्थ साहित्यकी सुन्दर वस्तु है और विश्वकविके भावोंको बतलाने वाला सुन्दर पथ-दर्शक है। इसमें विश्वकविकी चुनी हुई भावमय सुन्दर कविता देकर उसका हिन्दीमें अर्थ और उसके नीचे विश्वकविने किस भावमें प्रेरित हो कर वह कविता लिखी, इसका खुलासा कर दिया गया है। इसके पढ़नेसे हिन्दी-पाठक विश्वकविके भावोंको अच्छी तरह समझ सकेंगे और घर बैठे हीं उनके साथ साक्षात्कार कर सकेंगे।

हमें आशा ही नहीं पूरा भरोसा है कि हिन्दी-पाठक इस ग्रंथको अपना कर हमारी चिर अभिलाषाको सफल करेंगे। यदि पाठकोंने इसे पसन्द कर हमारा उत्साह बढ़ाया तो हम और भी सुन्दर साहित्य प्रकाशित करनेका प्रयत्न करेंगे।

लेखककी अनुपस्थितिमें यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, इसलिये कुछ गलतियोंका रह जाना सम्भव है। अतः उसके लिए हम पहले ही पाठकोंसे क्षमा माँग लेना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

विनम्र—

निहालचन्द वर्मा

प्रकाशक

रवीन्द्र-कविता-कानन

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ

परिचय

रवीन्द्रनाथके जीवनके साथ बंगभाषाका बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनोंके प्राण जैसे एक हों। रवीन्द्रनाथ सूर्य हैं और बंगभाषाका साहित्य सुन्दर पद्म। रवीन्द्रनाथके उदयके पश्चात् ही बंग-साहित्यका परिपूर्ण विकास हुआ। रवीन्द्रनाथके आनेके पहले इसके सौन्दर्यकी यह छटा न थी, न इसके सुगन्धकी इतनी तरंगें संसारमें फैली थीं। पश्चिमी विद्वानोंके हृदयमें बंगभाषाके प्रति उस समय इस तरह का अनुराग न था। वे मधुलुब्ध भौंरेकी तरह इसकी ओर उस समय इतना न खिचे थे।

वह बङ्गभाषाके जागरणकी पहली अवस्था थी। कुछ बङ्गाली जगे भी थे, परन्तु अधिकांशमें लोग जग कर अंगड़ाइयां ही ले रहे थे। आँखोंसे सुषुप्तिका नशा न छूटा था। आलस्य और शिथिलता दूर न हुई थी। उस समय मधुर प्रभातीके स्वरोंमें उन्हें सचेत करनेकी आवश्यकता थी। उनकी प्रकृतिको यह कमी खटक रही थी। जीवनकी प्रगति, रूखी कर्त्तव्यनिष्ठा और कर्म-तत्परताको संगीत और कविताकी सदा ही जरूरत रही है। विना इसके जीवन और कर्म बोझ हो जाते हैं। चित्त-उच्चाटके साथ ही संसार भी उदास हो जाता है, जीवन निरर्थक, नीरस और प्राणहीन-सा हो जाता है।

प्रकृतिकी कमी भी प्रकृतिके द्वारा ही पूर्ण होती है। जागरणके प्रथम प्रभातमें आवेश भरी भैरवी बंगालियोंने सुनी,—वह संगीत, वह तान, वह स्वर, बस जैसा चाहिये वैसा ही। जातिके जागरणको कर्मकी सफलता तक

पहुंचानेके लिए, चलकर जगह-जगहपर थकी बैठी हुई जातिको कविता और संगीतके द्वारा आश्वासन और उत्साह देनेके लिए उसका अमर कवि आया, प्रकृतिने प्रकृतिका अभाव पूरा कर दिया। ये सौभाग्यमान पुरुष बङ्गालके जातीय महाकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं।

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणसे लेकर बीसवीं शताब्दीके पूर्ण प्रथम चरण तक तथा अबतक रवीन्द्रनाथ कविता साहित्यमें संसारके सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। इनके छन्द अनगिनित आवर्तों और स्वर-हिलोरोंकी मधुर अगणित थपकियोंसे पूर्ण थे और पश्चिमकी पथरीली चट्टानें ढहकर नष्ट हो गईं—विषमताकी जगह समताकी सृष्टि हुई। प्रतिभाके प्रासादमें संसारने रवीन्द्र-नाथको सर्वोच्च स्थान दिया। देखा गया कि एक रवीन्द्रनाथमें बड़े-बड़े कितने ही महाकवियोंके गुण एक साथ मौजूद हैं। परन्तु इस बीसवीं सदीमें जिसे प्राप्त कर संसार बसन्तोत्सव मना रहा है, वह कभी विकसित, पल्लवित, उच्छ्वसित, मुकुलित, कुसुमित, सुरभित और फलित होनेसे पहले अंकुरित दशामें था।

अंकुरको देखर उसके भविष्य-विस्तारके सम्बन्धमें अनुमान लगाना निरर्थक होता है। क्योंकि प्रायः सब अंकुर एक ही तरहके होते हैं। उनमें होनहार कौन है और कौन नहीं, यह बतलाना ज़रा मुश्किल है। इसी तरह, वर्त्तमानके महा-कविको उनके बालपनकी क्रीड़ाएं देखकर पहचान लेना, उनके भविष्यके सम्बन्ध में सार्थक कल्पना करना, असम्भव है। क्योंकि उनके बालपनमें कोई ऐसी विचित्रता नहीं मिलती, जिससे यौवन-कालकी महत्ता सूचित हो। जो लोग वर्त्तमानके साथ अतीतकी श्रृंखला जोड़ते हैं, वे वर्तमानको देखकर ही उसके अनुकूल अतीतकी युक्तियां रखते हैं। रवीन्द्रनाथके बाल्यकी वह कृश नदी—उसका वह छोटासा तट, सब नदियोंकी तरह पानीकी क्षुद्र चंचलता, आनन्द-आवर्त्त, गीत और नृत्य; यह सब देखकर उसके भविष्य-विस्तारकी कल्पना कर लेना सरासर दुस्साहस है।

जिस समय रवीन्द्रनाथ अपने बालपनके क्रीड़ा-भवनमें केलियोंकी कच्ची दीवारें उठाने और ढहानेमें जीवनकी सार्थकता पूरी कर रहे थे, अपना आव-श्यक प्रथम अभिनय खेल रहे थे, वह बङ्ग-साहित्यका निरा बाल्यकाल ही न


राममोहन राय


ई० विद्यासागर


हेमचन्द्र

था, न वह किशोर और यौवनका चुम्बन-स्थल था, वह किशोरताकी मध्यस्थ अवस्था थी। बाल्य डूब रहा था और सौन्दर्यमें एक खिचाव रह-रहकर आ रहा था। बाल्यकी स्मृति-विस्मृति एक दूरकी स्मृति-विस्मृति हो रही थी। बङ्गभाषा उस समय नौ वर्षकी एक बालिका थी।

उस समय राजा राममोहनरायके द्वारा बंगभाषामें गद्यका जन्म हो चुका था। उनकी प्रभावशालिनी लेखनीकी बंगला साहित्यमें मुहर लग चुकी थी। भाषाके शोधन और मार्जनमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हाथ लगा चुके थे। कविताकी नयी ज्योति खुल चुकी थी—हेमचन्द्र मैदानमें आ चुके थे। बंकिम-चन्द्र उपन्यास और गद्य साहित्यमें जीवन डाल चुके थे। नवीनचन्द्रकी ओज-स्विनी कविताएं निकल रही थीं। मधुसूदनदत्तके द्वारा अमित्राक्षर छन्दकी सृष्टि हो गई थी।

इतना सब हो जानेपर भी वह बंगभाषामें यौवनका शुभ भाव न था। जो कुछ था, वह बाल्य और किशोरताका परिचय मात्र ही था। किशोरी बंगभाषाके साथ इस समय अपनी मातृभूमिकी मृदुल गोदपर खेल रहे थे किशोर रवीन्द्रनाथ—बङ्गभाषाके यौवनके नायक—उसकी लीलाके मुख्य सहचर—उसके तीसरे युगके एकछत्र सम्राट।


बंकिमचन्द्र


मधुसूदनदत्त

कलकत्ताके अपने जोड़ासाको भवनमें १८६१ की ६ मईको रवीन्द्रनाथ पैदा हुए थे। इस वंशकी प्रतिष्ठा बंगालमें पहले दर्जेकी समझी जाती है। अलावा इसके इस वंश को एक और सौभाग्य प्राप्त था जो श्रीमानोंको अक्सर नहीं मिलता।

इस वंशमें लक्ष्मी और सरस्वतीकी पहले ही से समान दृष्टि है। इसके लिये ठाकुर-वंश बंगालमें विशेष प्रसिद्ध भी है। लक्ष्मी और सरस्वतीके पारस्परिक विरोधकी कितनी ही कहानियाँ हिन्दुस्तानमें मशहूर हैं। बंगालमें इन दोनोंकी मित्रताके उदाहरणमें सबसे पहले ठाकुर घरानेका नाम लिया जाता है। रवीन्द्रनाथके पिता स्वर्गीय महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे और पितामह स्वर्गीय द्वारकानाथ ठाकुर। शारदा देवी आपकी माता थीं।



ठा० देवेन्द्रनाथ

ठाकुर-वंश पिराली ब्राह्मण समाजकी ही एक शाखा है। इस वंशको 'ठाकुर' उपाधि अभी पांच ही छः पुश्तसे मिली है। इस वंशके साथ बंगालके दूसरे ब्राह्मणोंके समाजका खान-पान बहुत पहले ही से नहीं है। इस वंशके इतिहाससे मालूम हुआ कि पहले इस वंशकी मर्यादा इतनी बढ़ी-चढ़ी न थी। वह बहुत साधारण भी न थी। समाजमें इसके पतित समझे जानेके कारण इसमें क्रान्ति करने वाली शक्तियोंका अभ्युत्थान होना भी स्वाभाविक ही था। ईश्वरकी इच्छा, क्रान्तिके भावोंके फैलानेके लिये इस वंशकी शक्ति को साधन भी यथेष्ट मिले और समाजसे दबकर मुरझानेके बदले देश और संसारमें उसने एक नयी स्फूर्ति फैलायी। धर्म, दर्शन, विचार-स्वातन्त्र्य, साहित्य, संगीत, कला और प्रायः सभी विषयोंमें ठाकुर घरानेकी इस समय एक खास सम्मति रहती है। संसारमें उसकी सम्मति आदरयोग्य समझी जाती है। सामाजिक बाधाओंके कारण विलायत-यात्रा, धर्म-संस्कार, साहित्य-संशोधन और सभ्यताके हरएक अंगपर अपनी कृतियोंके चिन्ह छोड़नेका इस वंशको एक शुभ अवसर मिला।

श्राद्धके समय इस घरानेमें दस पुरुषों तकके जो नाम आते थे वे ये हैं:—

"ओं पुरुषोत्तमाद बलरामो बलरामाद्धरहरो हरिहराद्रामानन्दो रामानन्दान्महेशो पंचाननः पंचाननाज्जये रामो जय रामान्नीलमणि नीलमणे रामलोचनो रामलोचनाद्द्वारकानाथो नमः पितृपुरुषेभ्यो नमः पितृपुरुषेभ्य।"

"पुरुषोत्तम—बलराम—हरिहर—रामानन्द—महेश—पंचानन—जयराम—नीलमणि—रामलोचन—द्वारकानाथ—देवेन्द्रनाथ—रवीन्द्रनाथ—रथीन्द्रनाथ।

ठाकुर-वंश भट्टनारायण का वंश है। भट्टनारायण उन पांच कान्यकुब्जोंमें हैं जिन्हें आदिशूरने कन्नौजसे अपने यहां रहनेके लिए बुलाया था और वंगालमें खासी सम्पत्ति देकर उन्हें प्रतिष्ठित किया था। संस्कृत के वेणी-संहार नाटकके रचयिता भट्टनारायण यही थे। जिनका नाम पितृपुरुषोंकी वंश-सूचीमें पहले आया है, वे पुरुषोत्तम यशोहर जिलेके दक्षिण डिहोके रहने वाले पिराली वंशके एक ब्राह्मणकी कन्यासे विवाह करके पिराली हो गये थे। ये यशोहरमें रहने भी लगे थे।

इसी वंशके पंचानन यशोहरसे गोविन्दपुर चले आये। यह मौजा हुगली नदीके तट पर वसा है। यहाँ नीच जातियाँ ज्यादा रहती थीं। ये उन्हें "ठाकुर" कहकर पुकारती थीं। वंगालमें ब्राह्मणों के लिये यह सम्बोधन आम-फहम है। इस तरह, पंचाननके बादसे इस वंशकी यही "ठाकुर" उपाधि चली आ रही है।

गोविन्दपुरमें जब पंचानन पहले पहल गये और बसे, उस समय भारतमें अंग्रेज पैर जमा ही रहे थे। वहाँके अंग्रेजोंसे पंचाननकी जान पहचान हो गई। अंग्रेजोंने उनके लड़केको जिनका नाम जयराम था, २४ परगनेका जमींदार मुकर्रर कर दिया। जयरामने कलकत्तेके पथरिया हट्टमें एक मकान बनवाया और कुछ जमीन भी खरीदी। १७५२ ई० में उनका देहान्त हो गया। उनके चार पुत्र थे। उनमें उनके दो लड़कोंने, नीलमणि और दर्पनारायणने कलकत्ते के पथरिया हट्टा और जोड़ासाकूमें दो मकान बनवाये। इस वंशकी सम्पत्तिका अधिक भाग रवीन्द्रनाथके पितामह द्वारकानाथने स्वयं उपार्जित किया था और उनके ऋणके कारण उसका अधिकांश चला भी गया।

इस वंशका धर्म पहले शुद्ध सनातन धर्म ही था। उस समय ब्राह्म-समाज बीजरूपमें भी न था। इसके प्रतिष्ठाता रवीन्द्रनाथके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ थे। इस समाजकी प्रतिष्ठा कई कारणोंसे की गयी थी। पहला कारण तो यही है कि ब्राह्मण-समाजमें इस वंशकी प्रतिष्ठा न थी। दूसरे इस वंशके लोगोंमें शिक्षा और संस्कृति बढ़ गयी थी। भावोंमें उदारता आ गयी थी। य विलायत-यात्राके पक्षमें थे। द्वारकानाथ विलायत हो भी आये थे। इन

कारणोंसे समाजकी दृष्टिमें इस वंशकी जो जगह रह गई थी, वह भी जाती रही। इस वंशको इसकी बिल्कुल चिन्ता नहीं हुई। ज्ञान-विस्तारके साथ ही इसकी सुरुचि भी परिष्कृत होती गई। तुच्छ अभिमानकी जगह उन्नत आर्य-संस्कृतिका अभिमान पैदा हुआ। जाति और देशके प्रति प्रेम और प्रतिभाने इस वंशको गौरवके शिखरपर स्थापित किया। रवीन्द्रनाथका रंग और रूप देखकर आर्योंके सच्चे रंग एवं रूपकी याद आ जाती थी। समाज और देशके मुख्य मनुष्यों द्वारा बाधा प्राप्त होनेके कारण इस वंशके लोगोंको अपने विकासके पथपर अग्रसर होनेकी आत्म-प्रेरणा हुई। ये बढ़े भी और बहुत बढ़े। इनकी प्रतिभामें नयी सृष्टि रचनेकी जो शक्ति थी उसने देश और साहित्यका बड़ा उपकार किया, दोनोंमें एक युगान्तर पैदा कर दिया। जिसमें सृष्टिके हजारों मनुष्योंको उस मार्गपर चलनेकी शक्ति है, जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभवपर टिका हुआ है, जिसकी बुद्धि अपने विचारोंसे अपनेको धोखा नहीं देती, वह हजार उपेक्षाओं और असंख्य बन्धनोंमें रहनेपर भी अपनी स्वाधीन गतिके लिये रास्ता निकाल लेता है। इन लोगोंने भी ऐसा ही किया। अपने लिये आर्यसंस्कृतिके अनुसार धर्म और समाजकी सुविधा भी कर ली। इनके यहां अभी उस दिनतक देवी-देवताओंकी पूजा हुआ करती थी। इन लोगोंने ब्राह्म-समाजकी स्थापना की और वेदान्त वेद्य ब्रह्मकी उपासना करने लगे। रवीन्द्रनाथके पिता, महर्षि देवेन्द्रनाथ तो पक्के ब्राह्मसमाजी थे, परन्तु इनकी माताके हृदयमें हिन्दूपनकी छाया, मूर्ति पूजनके संस्कार, मृत्युके अन्तिम समय तक मौजूद थे।

देशकी तात्कालिक परिस्थिति जैसी थी, ईसाई धर्म जिस वेगसे बंगालमें धावा मार रहा था, सनातनधर्मियोंकी संकीर्णता जिस तरह क्षुद्र होती जा रही थी, यश प्राप्तिकी प्यास जिस तरह बंगालियोंको पश्चिमकी ओर बढ़ा रही थी, उन कारणोंसे उस समय एक ऐसे धर्मका उद्भव होना आवश्यक था जो बाहरी देशोंसे लौटे हुए हिन्दुओंको भारतीयताके घेरेमें रखकर उनमें पारस्परिक ऐक्य और सहानुभूति बनाये रह सके—जाति-भिन्नतामें भी एकताके बन्धनोंको दृढ़ कर सके। दूसरी दृष्टिसे, जिस तरह पण्डितोंकी संकीर्णता

सक्रिय थी, उसी तरह देशमें उदारताकी एक प्रतिक्रिया होना आवश्यक हो गया था, यह अवश्यम्भावी था और प्राकृतिक भी था।

पहले पहल राजा राममोहनरायके मस्तिष्कमें ब्राह्मसमाजकी स्थापनाके भाव पैदा हुए थे। परन्तु ब्राह्मसमाजको स्थायी रूप वे नहीं दे सके। इससे पहले ही उनकी मृत्यु हो गयी। इसे स्थायी रूप मिला, रवीन्द्रनाथके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथके द्वारा। जिस समय देवेन्द्रनाथके हृदयमें अद्वैत ब्रह्मकी उपासनाकी आशा दूसरोंकी दृष्टिसे बचकर पुष्ट हो रही थी, उस समय उनके यहाँ शालिग्रामकी पूजा बड़े धूमधामसे की जाती थी। परन्तु, जिस बीजका अंकुर उग चुका था, उसका फलीभूत होना स्वाभाविक था। अस्तु १८३८ ई० में महर्षिने तत्वरंजनी नामकी एक सभाकी प्रतिष्ठा की। इसकी स्थापना उन्होंने अपने घरपर ही की थी। इसके दूसरे अधिवेशनके समय विद्यावागीश रामचन्द्रको उन्होंने बुलाया। विद्यावागीश महोदयने इस सभाका नाम तत्व-रंजिनी बदलकर तत्वबोधिनी रखा। १८४२ ई० में यह सभा निर्जीव ब्रह्म-समाजके साथ मिला दी गयी। इसी साल महर्षि देवेन्द्रनाथ भी ब्राह्मसमाजी हो गये। इसमें नया जीवन डालने और कुछ दूसरे कारणसे देवेन्द्रनाथ महर्षि कहलाये। उनके सुपुत्रोंने इस कार्यमें उनकी सहायता की। किसी समय रवीन्द्रनाथने बड़ी योग्यता और तत्परताके साथ पिताके इस कार्यका संचालन किया था।

रवीन्द्रनाथका बालपन सुखकी कल्पनाओं और सरल केलियोंके भीतर संसारका प्रथम परिचय प्राप्तकर मधुर और बड़ा ही सुहावना हो रहा था। रवीन्द्रनाथ उच्च वंशके लड़के थे। उन्हें कोई अभाव न था। परन्तु उन्हें बालपनमें दीनताकी गोदपर सहानुभूतिकी प्रार्थना करते हुए देखकर हृदयको अपार सुखकी प्राप्ति होती है। उन्हें ऐसा ही साधारण जीवन बिताना पड़ा था।

रवीन्द्रनाथ पढ़नेके लिये ओरियण्टल सेमीनरीमें भर्ती किये गये। उस समय इनके स्कूल जाते हुए एक ऐसी ही घटना घटी। पहले इनके दो साथी उस स्कूलमें भर्ती किये गये। वे इनसे उम्रमें कुछ बड़े थे। उन्हें बग्घी-

पर चढ़कर स्कूल जाते हुए और स्कूलसे लौटकर बाहरके मनोरंजक दृश्योंका वर्णन करते हुए सुनकर रवीन्द्रनाथको स्कूल जानेकी बड़ी लालसा हुई। परन्तु इनकी उम्र उस समय बहुत थोड़ी थी। लोगोंने समझाया कि इस समय तो स्कूल जानेके लिये मचल रहे हो, परन्तु दो-चार दिनके बाद फिर जी चुराओगे। यह भय बालक रवीन्द्रनाथको सत्याग्रहसे विचलित न कर सका। आंसुओंके बलपर बालककी विजय हुई। दूसरे दिन रवीन्द्रनाथ ओरियण्टल सेमीनरीमें बच्चोंकी कक्षामें भर्ती कर दिये गये। यहाँ बच्चोंपर जैसा शासन था, इससे रवीन्द्रनाथको बहुत शीघ्र यहाँकी पढ़ाईसे जी छुड़ाना पड़ा।

ओरियण्टल सेमीनरीसे बालक रवीन्द्रनाथको नार्मल स्कूलमें भर्ती कर दिया गया। उम्र इस समय भी इनकी बहुत थोड़ी ही थी। यहाँ दूसरी ही दिक्कतका सामना करना पड़ा। यहाँ बच्चोंसे अंग्रेजीमें गाना गवाया जाता था। अंगरेजी थियोरियां और अंगरेजी गाने सिखलाये जाते थे। हिन्दुस्तानी बच्चोंके गलेमें मजकर एक अंगरेजी गानेकी ऐसी शकल बन गई थी कि उस पर इस समयके शब्द-तत्ववेत्ताओंको पाठोद्धारके लिये विचार करना चाहिये। रवीन्द्रनाथको इस समय भी उस गानेकी एक लाइन न भूली।

"कलोकी पुलोकी सिंगल
मेलालिं मेलालिं मेलालिं।"

इसके उद्धारके लिये रवीन्द्रनाथको बड़ी मिहनत उठानी पड़ी। फिर भी "कलोकी" की सफल कल्पना नहीं कर सके। बाकी अंशका उन्होंने इस तरह उद्धार किया—"Full of glee, Singing merrily ! Singing merrily !! Singing merrily !!!"

नार्मल स्कूलमें विद्यार्थियोंके सहवासको रवीन्द्रबाबूने बहुत ही दूषित बतलाया है। जब लड़कोंके जलपानकी छुट्टी होती थी, उस समय नौकरके साथ बालक रवीन्द्रनाथको एक कमरेमें बन्द रहना पड़ता था इस तरह बालकोंके उत्पातसे वे आत्मरक्षा करते थे। एक दिन वहाँ किसी शिक्षकने

अपशब्द कह दिये। तबसे उनके प्रति बालक रवीन्द्रनाथकी अश्रद्धा हो गयी। फिर बालकने उस शिक्षकके किसी प्रश्नका कभी उत्तर नहीं दिया।

रवीन्द्रनाथने सात ही वर्षकी उम्रमें एक कविता पमार छन्दमें लिखी थी। इसे पढ़कर इनके घरवालोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। यह कविता रवीन्द्रनाथने अपने भानजे ज्योति स्वरूपसे उत्साह पाकर लिखी थी। उम्रमें वे इनसे बड़े थे, अंग्रेजी स्कूलमें पढ़ते थे। इनके बड़े भाई स्वर्गीय द्विजेन्द्रनाथको यह कविता पढ़ कर बड़ा ही हर्ष हुआ। उन्होंने वहुतेरोंको कविता दिखायी और एक दिन नेशनल पेपरके एडीटर नवगोपाल बावूके आने पर उन्हें भी कविता सुनायी गयी। वर्तमानकालके समालोचकोंकी तरह अनुदार और जरा-सी सम्मति देने वालोंकी उस समय भी कमी न थी। नवगोपाल बाबू भी आखिर सम्पादक थे, गंभीरतापूर्वक हंसे, दबे स्वरोंमें कहा—"हाँ, अच्छी तो है, जरा द्विरेफ खटकता है।" नवगोपाल बाबू कविताके मर्मज्ञ थे या नहीं, यह तो हम नहीं कह सकते, परन्तु इतना हमें मालूम है कि उनकी कविता-मर्मज्ञताके सम्बन्धमें उस समयके बालक रवीन्द्रनाथके जो भाव थे वे अब तक भी नहीं बदल सके, न अब तक वह द्विरेफ शब्द रवीन्द्रनाथको खटका।

बचपनमें रवीन्द्रनाथपर नौकरोंका शासन रहता था। इन्हींके बीचमें वे पल रहे थे। रवीन्द्रनाथके पिता उन दिनों पर्यटन कर रहे थे। अक्सर बाहर ही रहा करते थे। रवीन्द्रनाथको माताकी गोदपर पहली सीढ़ीके पार करनेका सौभाग्य न मिला। माता उस समय रोग-ग्रस्त रहती थीं। रवीन्द्रनाथकी देख-रेख नौकरों द्वारा ही हुआ करती थी। बड़े घरोंके लड़के बालपनमें भोजन-वस्त्रका अभाव नहीं महसूस करते। यह बात रवीन्द्रनाथके लिये न थी—भोजन और वस्त्रका सुख भोग उस समय इन्हें नहीं मिला। सुख उन्हें उनकी क्रीड़ाएं देती थीं। उन्हींकी छायामें वे प्रसन्न होते थे। दस वर्ष तक रवीन्द्रनाथको मोजा भी नहीं मिला। जाड़ेके दिनोंमें दो सादे कुर्ते पहन कर जाड़ा काटना पड़ता था। रवीन्द्रनाथने अपने बालपनको जिन शब्दोंमें याद किया है, उनसे वे हर एक पाठककी सहानुभूति आकर्षित कर लेते हैं। एक जगह उन्होंने लिखा है—"इस तरहके अभावोंसे मुझे कष्ट न था। परन्तु

जब हमारे यहाँका दर्जी इनायतखां कुर्ते में जेब लगाना भी अनावश्यक समझता था तब दुःख अवश्य होता था।" एक जोड़ा स्लीपरोंसे बालकको जूतेका शौक पूरा कर लेना पड़ता था। इस तरहके स्लीपरोंसे रवीन्द्रनाथकी इतनी सहानुभूति थी कि जहाँ उनके पैर रहते वहाँ जूतोंकी पहुँच न होती थी।

नौकरोंके प्रभावका एक उदाहरण लीजिये। इनके यहाँ एक नौकर खुलना जिलेका रहता था। नाम श्याम था। था भी श्याम ही। एक रोज बालक रवीन्द्रनाथको कमरेमें बैठाकर चारो ओरसे उसने लकीर खींच दी और गम्भीर होकर कहा, इसके बाहर पैर बढ़ाया नहीं कि आफ़तका पहाड़ टूटा। सीताकी कथा रवीन्द्रनाथ पढ़ चुके थे। वे नौकरकी बातपर अविश्वास न कर सके। वे चुपचाप वहीं बैठे रहे। इस तरह कई घण्टे उन्हें बैठे रहना पड़ा। झरोखेसे अपने घरके पक्के घाटपर लोगोंकी भीड़, बगीचेमें चिड़ियोंकी चहक, पूर्व ओर की चहारदीवारीके पासका चीनावट, पड़ोसियोंका आना, नहाना, नहानेके प्रकार भेद, ये सब दृश्य बालक रवीन्द्रनाथको उस कैदमें भी धैर्य और आनन्द देनेवाले उनके परम प्रिय सहचर थे। उनके बालपनका अधिकांश समय प्रकृतिके दूसरे छोरकी मोहिनी सृष्टिके साथ उन्हें मैत्रीके बन्धनमें बाँधकर न जाने किस अलक्षित प्रेरणासे उनके भावी जीवनके आवश्यक अंगका सुधार कर रहा था। घरकी प्रकृतिके साथ रवीन्द्रनाथका एक बड़ा ही मधुर परिचय हो गया था। उनके किशोर समयके आते ही यह प्रकृतिके सुकुमार कविताके रूपमें प्रगट हुआ।

प्रकृतिदर्शनकी कितनी ही कथाएँ बालक रवीन्द्रनाथकी जीवनीमें मिलती हैं। विस्तार भयसे उनका उल्लेख हम न करेंगे। संक्षेपमें इतना कह देना बहुत होगा कि जीवनकी इस अवस्थाको देखकर कविके भावी जीवनका कुछ अनुमान हो जाता है।

नार्मल स्कूलके एक शिक्षक रवीन्द्रनाथको घरपर भी पढ़ाते थे। ये नीलकमल घोषाल थे। स्कूलकी अपेक्षा घरपर रवीन्द्रनाथको अधिक पढ़ना पड़ता था। सुबहको लँगोट कसकर एक कानें पहलवानसे ये जोर करते थे। कुछ

ठंडे होकर, कुर्ता पहन, पदार्थ-विद्या, मेघनाद वध काव्य, ज्यामिति, गणित इतिहास, भूगोल आदि अनेक विषयोंका अभ्यास करना पड़ता था। फिर स्कूलसे लौटकर ड्राइंग और जिमनास्टिक सीखते थे। रविवारको गाना सिखलाया जाता था। सीतानाथ दत्त महाशय मन्त्रोंके द्वारा कभी-कभी पदार्थ-विज्ञानकी शिक्षा देते थे। कैम्बल मेडिकल स्कूलके एक विद्यार्थीसे अस्थि-विद्याकी शिक्षा मिलती थी। एक तारोंसे जोड़ा हुआ नर कंकाल पाठागारमें लाकर खड़ा कर दिया गया था। उधर हेरम्ब तत्वरत्न मुकुन्द सच्चिदानन्दसे आरम्भ कर 'मग्धबोध' व्याकरण रटा रहे थे। बालक रवीन्द्रनाथको अस्थि-विद्याके हाड़ों और वोददेवके सूत्रोंमें हाड़ ही अधिक सरस और मुलायम जान पड़ते थे। बंगभाषाकी शिक्षाके परिपुष्ट हो जाने पर इन्हें अंगरेजीकी शिक्षा दी जाने लगी।

पहले पहल इन्हें प्यारीलालकी लिखी पहली और दूसरी पुस्तक पढ़ायी गयी, फिर एक पुस्तक आक्सफोर्ड रीडिंगकी। अंगरेजीकी शिक्षामें रवीन्द्रनाथका जी न लगता था। पढ़ते-पढ़ते शाम हो जाती थी। मन अन्तःपुरकी ओर भागा करता था। दिन भरकी मिहनतके बाद थका हुआ मन क्रीड़ाकी गोद छोड़ कर विदेशी भाषाके निर्दय बोझके नीचे दबा रहना कैसे पसन्द करता? रवीन्द्रनाथको इस समय की दयनीय दशाकी स्मृतिमें लिखना पड़ा है—"उस अंग्रेजी पुस्तककी जिल्द, काली भाषा क्लिष्ट वि योंको, विद्यार्थियोंसे जरा भी सहानुभूति नहीं, बच्चोंपर उस समय माता सरस्वतीकी कुछ भी दया नहीं देख पड़ी। प्रत्येक पाठ्य-विषयकी ड्योढ़ीपर सिलेबुलोंके द्वारा अलग किया हुआ उच्चारण, और ऐकसेण्टोंको देखिये तो आप समझेंगे कि किसीकी जान लेनेके लिये बन्दूकपर संगीन चढ़ायी गयी है।" अँग्रेजीकी पढ़ाईसे रवीन्द्रनाथकी उदासीनता देखकर मास्टर सुबोधचन्द्र इन्हें बहुत धिक्कारते थे। इनके सामने एक दूसरे छात्रकी प्रशंसा करते थे। परन्तु इस उपमान और उपमेयकी छुटाई बड़ाई यानी इस समालोचनाका प्रभाव रवीन्द्रनाथपर बहुत कम पड़ता था। कभी-कभी इन्हें लज्जा तो आती थी, परन्तु उस काली पुस्तकके अंधेरेमें पैठनेका दुस्साहस भी एकाएक न कर सकते थे। उस समय शांतिका एकमात्र सहारा

प्रकृतिकी कृपा होती थी। प्रायः देखा जाता है, क्लिष्ट विषयोंके दुरूह दुर्गके अन्दर पैठनेके लिये हाथ-पैर मारकर थके हुए बच्चेके प्रति दया करके प्रकृति देवी उसे निद्राके आराम-मन्दिरमें ले जाती है। रवीन्द्रनाथकी भी यही दशा होती थी। पुतलियाँ नींदकी सुखद मदिरा पीकर पलकोंकी गोदमें शिथिल हो कर धीरे-धीरे मुँद जाती थीं। इतनेपर भी इन्हें विदेशी शिक्षाकी निर्दय चेष्टाओंसे मुक्ति न मिलती थी। आँखोंमें पानीके छींटे लगाये जाते थे। इस दुर्दशासे मुक्तिके दाता इनके बड़े भाई थे। अपने छोटे भाईकी शिक्षा-प्रगतिको प्रत्यक्ष करते ही उन्हें दया आ जाती थी। वे मास्टरसे कहकर इन्हें छुट्टी दिला देते थे। आश्चर्य तो यह है कि वहाँसे चलकर बिस्तरेपर लेटनेके साथ ही रवीन्द्रनाथकी नींद भी गायब हो जाती थी।

नार्मल स्कूल छोड़कर ये बंगाल एकाडमी नामके एक फिरंगी स्कूलमें भर्ती हुए। वहाँ भी अंग्रेजीसे इन्हें विशेष अनुराग न था। वहाँ कोई इनकी निगरानी करनेवाला भी न था। वह स्कूल छोटा था। उसकी आमदनी कम थी। रवीन्द्रनाथने लिखा है—"स्कूलके अध्यक्ष हमारे एक गुणपर मुग्ध थे। हम हर महीना, समय समयपर, स्कूलकी फीस दे दिया करते थे। यही कारण है कि लैटिनका व्याकरण हमारे लिये दुरूह नहीं हो सका। पाठ-चर्चाके अक्षम्य अपराधसे भी पीठ अक्षत बनी रहती थी।"

बचपनमें कविता लिखनेकी इन्होंने एक कापी आसमानी रंगके कागजोंकी बनाई थी। उसके कुछ पद्य निकल चुके हैं। होनहार तो ये पहले ही से थे। इनकी पहलकी कविताओंमें प्रतिभा यथेष्ठ मात्रामें मिलती है। लेकिन, निरे बचपनसे कविता करते रहने पर भी, इन्हें, कुछ अंगरेज, कौले और ब्रौनिंग की तरह, बचपनका प्रतिभाशाली कवि नहीं मानते। कुछ भी हो, हमें रवीन्द्र नाथके उस समयके पद्योंमें भी बड़ी ही सरस सृष्टि मिलती है।

पश्चिमी-संसार रवीन्द्रनाथको नदीका कवि (River poet) मानता है। हैं भी रवीन्द्रनाथ नदीके कवि। उनकी कविताओंमें जगह-जगह, अनेक बार, नदीका सौन्दर्य, प्रवाह और तरंगोंकी मनोहरता दिखलायी गयी है। सफल

भी रवीन्द्रनाथ इन कविताओं में बहुत हुए हैं। नदीकी कविता उनके लिये स्वाभाविक है। बंगाल नदियोंके लिये प्रसिद्ध है। उधर रवीन्द्रनाथके जीवनका बहुतसा समय, नदियोंके किनारे, उनके प्राकृतिक सौन्दर्यकी उदार गोदमें बीत है। सौन्दर्य-प्रियता रवीन्द्रनाथकी प्रकृतिमें उनके पिताकी प्रकृतिसे दूसरी तरहकी है। उनके पिता हिमालय शिखर-संकुल प्रदेश पसन्द करते थे, परन्तु रवीन्द्रनाथको, समतल भूमिपर, दूर तक फ़ैली हुई, हरी भरी, हँसती हुई, चंचल तथा विराट प्रकृति अधिक प्यारी है। जिन्हें रवीन्द्रनाथ आदर्श मानते हैं, वे कालिदास भी पर्वत-प्रिय कवि थे। रवीन्द्रनाथकी मौलिकताकी यहाँ भी स्वतन्त्र चाल है।

पन्द्रहवें सालसे पहले ही रवीन्द्रनाथ कुछ कविताएँ कर चुके थे। उनकी पहलेकी कविताएँ और समालोचना 'ज्ञानांकुर' में निकलती थीं। उन दिनों 'भारती'में भी ये लिखा करते थे। पहली और सबसे बड़ी इनकी कवि-कथा नामकी कविता 'भारती' में निकली थी। इस समय यह पुस्तिकाकार बिकती है। कहते हैं कि जीवनकी इस अवस्थामें अंगरेज कवि शेली इन्हें बहुत प्यारा था। चूँकि यह उनकी कविताकी पहली ज्योति थी—यौवन-कालकी पहली रागिनी थी, इसलिये भावुकता और सर्वलोक प्रियता इसमें बहुत है। जीवनकी अधखुली अवस्थामें स्वभावतः संसारकी ओर बहकर, अपनी धारामें उसे बहा ले चलनेकी भावनाकी प्रतिभा हरएक कविमें होती है। यही हाल उस समय रवीन्द्रनाथका भी था। उनकी निर्जनप्रियता भी हद दर्जेकी थी। अपने विकासकी उलझनोंको एकान्तमें बैठे हुए दो-दो और तीन-तीन घण्टे तक वे सुलझाते रहते थे। हृदयकी आँख इस तरह खुल रही थी। कुछ दिनों बाद बनफूलके नामसे इनकी एक दूसरी पुस्तक निकली। यह उनकी ग्यारहसे पन्द्रह साल तक की कविताओंका संग्रह था। उन कविताओंसे कुछ ही कविताएं इस समयके संग्रहमें रह गयी हैं। बीसवें सालके अन्दर ही अन्दर 'गाथा' नामकी एक पुस्तक और उन्होंने कविता-कहानीमें लिखी। रवीन्द्रनाथके अंगरेज समालोचक लिखते हैं कि इसे पढ़कर जान पड़ता है कि रवीन्द्रनाथपर इस समय स्काट का प्रभाव था। बीसवें सालके अन्दर ही

भानु-सिंह-संगीतोंके बीस गाने तक उन्होंने लिख डाले थे। कहते हैं कि इस समयसे रवीन्द्रनाथका यथार्थ साहित्यिक जीवन शुरू होता है।

लेकिन, इस बीसवें सालसे पहले जब वे सोलह सालके थे, २० सितम्बर, १८७७ को, पहली बार वे विलायतके लिये रवाना हुए थे और साल भर बाद ४ नवम्बर १८७८ को बम्बई वापस आये। "भारती"में इनकी योरप-पर्यटन पर लिखी गई कुछ चिट्ठियाँ निकल चुकी हैं जिससे सूचित हो जाता है कि योरप उस समय इनके लिये सन्तोषप्रद नहीं हो सका। अरुचिकर चाहे जितना रहा हो, परन्तु सर्वांशतः योरप इनके लिये निष्फल नहीं हुआ। सबसे बड़ा लाभ तो इन्हें यही हो गया कि जिस महत्ताको रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्द और संगीतों द्वारा ये सार्वभौमिक करनेके लिये पैदा हुए थे उसके समुद्बोधनके लिये इन्हें वहाँ यथेष्ट साधन मिल गये। पहली बात तो यह कि इन्होंने पृथ्वीका विशाल भाग उचित उम्रमें प्रत्यक्ष देख लिया। दूसरी बात, संसारकी बहुतसी सभ्य जातियोंकी शिक्षा और उनके आचार-व्यवहारोंकी परीक्षा हो गयी। तीसरे, प्राकृतिक दृश्योंकी विचित्रता और हर प्रकृतिके मनुष्योंका बाहरी प्रकृतिके साथ आभ्यन्तरिक मेल, उसका वैज्ञानिक कारण, वहाँ जाने पर समझमें आ गया। बर्फ़का गिरना और दूर फैली हुई बर्फीली भूमिकी शोभा भी वहाँ दृष्टिगोचर हो गयी। अस्तु विलायतपर लिखे गये रवीन्द्रनाथके पत्र बड़े सरस हैं। यों भी रवीन्द्रनाथ बंगालके पहले दर्जेके पत्र लेखक हैं। कभी-कभी बंगलाके पत्रोंमें इनकी चिट्ठियाँ छपा करती थीं। विलायतसे लौटनेके कुछ ही दिनोंके बाद 'मेघनाद वध' काव्यपर इनकी एक प्रतिकूल समालोचना निकली। इस पैनी समालोचनापर अब ये हँसते हैं। कहते हैं, वह शक्तिकी पहली अवस्था थी जब 'मेघनाद-वध' काव्यपर लिखी गयी मेरी समालोचना प्रकाशित हुई थी। उस समय मुझे यह ज्ञान न था कि मैं बंगालके अमर कविकी प्रतिकूल समालोचना लिख रहा हूं।

इन्हीं दिनों रवीन्द्रनाथका 'करुणा' उपन्यास निकला। इस समय अक्सर कवि करुणाके पथिक हुआ करते हैं। संसारके दुःख और दाहके चित्रोंसे उनकी पूर्ण सहानुभूति रहा करती है। 'भग्न हृदय' नामक इस समयकी लिखी हुई

एक दूसरी पुस्तकमें ऐसे ही भावोंका समावेश हुआ है। यह पद्य-बद्ध नाटक है। यह रवीन्द्रनाथकी अठारह सालकी उम्रमें लिखा गया था। सोलहवें सालसे तेइसव साल तककी रवीन्द्रनाथकी स्थिति बड़ी चंचल थी। कोई शृंखला तब न हो पायी थी। उद्देश्य सदा ही परिवर्तित होते रहते थे।

१८८१ से १८८७ तकका समय रवीन्द्रनाथके लिये सच्चा साहित्यिक काल है। इस समय उनकी प्रतिभा पूर्ण रूपसे विकसित हो गई थी। इसी समय उनकी 'सन्ध्या-संगीत' नामक कविता पुस्तक निकली थी। इसके निकलनेके साथ ही, बंगाल भरमें रवीन्द्रनाथकी प्रतिभा चमक उठी। उस समयके बड़े-बड़े विद्वानों तकने रवीन्द्रनाथका लोहा मान लिया। कविताकी दृष्टिसे इनकी ये कविताएँ बड़े महत्वकी हैं। उनमें एक विचित्र ढंगकी नवीनता आ गयी है जो उस समयके कवियों और समालोचकोंके लिये बिल्कुल एक नयी चीज थी। 'वाल्मीकि प्रतिमा' और 'काल-मृगया' दोनों ही संगीत-काव्य हैं। रवीन्द्रनाथकी नस-नसमें धारा वह रही है। इनके अंगरेज समालोचक संगीतकी दृष्टिसे इन्हें बहुत ऊँचा स्थान देते हैं। उस स्थानके लिये ये योग्य भी हैं। भावोंके अतिरिक्त इनके शब्दोंमें बड़ा ज़ोर है और छन्दोंका बहाव जैसा वे चाहें बिल्कुल वैसा ही है। भाषा, भाव और छन्दोंपर इतना बड़ा अधिकार, इन पंक्तियोंके लेखकको, और कहीं नहीं मिला। उस दिन रवीन्द्रनाथपर दी गयी बंगलाके प्रसिद्ध औपन्यासिक शरतबाबूकी यह राय कि "मेरा विश्वास है, भारतमें इतना बड़ा कवि नहीं पैदा हुआ" बहुत अंशोंमें सच है। मुझे भी विश्वास है कि तुलसीको छोड़कर मुसलमानी शासन-कालसे लेकर आज तक इतना बड़ा कवि भारतमें नहीं पैदा हुआ।

'संध्या-संगीत' अलक्ष्य भावसे 'प्रभात-संगीत' की ओर इशारा करती है, जैसे कुछ दिनोंमें इस नामकी पुस्तक भी निकलनेवाली हो। ऐसा ही हुआ। 'सन्ध्या-संगीत' के प्रकाशित हो जानेपर कुछ दिनोंमें 'प्रभात-संगीत' भी निकला। इसने बंगला-साहित्यमें धूम मचा दी। इसकी भाषा, इसके भाव, इसके छन्द, सब विचित्र ढंगके; एक बिल्कुल अनूठापन लिये हुए। इस तरहकी कविता बंगालियोंने पहले ही पहल देखी थी, और निस्सन्देह कविताएँ

कवित्वकी हद्द तक पहुँची हुई हैं। बहुतोंको यहाँ तक भी विश्वास है कि रवीन्द्रनाथकी कविताओंमें 'प्रभात-संगीत' के पद्य सर्वश्रेष्ठ हैं, कमसे कम ओज और छन्दोंके बहावके विचारसे तो अवश्य ही श्रेष्ठ हैं। फिर इनका 'विविध-प्रसंग' निकला। इसकी भाषा बिल्कुल नये ढंगकी है। अपने पुराने उपन्यासोंमें रवीन्द्रनाथ जिसे आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, वह 'बहू ठाकुरानीर हाट' भी इसी समय निकला था।

रवीन्द्रनाथके 'प्रभात-संगीत' की कविताएँ आगे दी गयी हैं। उनसे मालूम हो जाता है कि रवीन्द्रनाथके हृदयमें किस तरहकी उथल-पुथल मची हुई थी? संसारसे मिलनेके लिये वे किस तरह व्याकुल हो रहे थे। हृदयका वन्द द्वार कविताके आते ही खुल गया और प्रेमकी जो धारा बही, उन्हें उनकी कविताओंके साथ, संसार भरमें वहाती फिरी।

१८८३ ई० में, कुछ समय तक वे करवार—पश्चिमी उपकूलमें रहे। यहाँ वे प्रसन्न रहते थे। यहाँकी प्रकृति—उसकी विशालता—दूरतक फैली, आकाशसे मिलती हुई, उन्हें बहुत पसन्द आई। इसी साल, दिसम्बरमें २२ वर्षकी उम्रमें, उनका विवाह हो गया।

'प्रकृतिर परिशोध' लिखनेके वाद कलकत्ता लौटकर उन्होंने 'छवि ओ गान' लिखा। कलकत्ता, जोड़ासाँको-भवनसे वे नजदीककी कुटियोंमें रहनेवाले निर्धन गृहस्थोंका जीवन, दैनिक स्थिति, एकान्तमें चुपचाप बैठे हुए देखा करते थे। सहानुभूतिशील कवि-हृदयमें उसका प्रभाव पड़े बिना न रहता था। इसपर उन्होंने दुःखान्त एक नाटक लिखा—'नलिनी।' अब यह पुस्तक अप्राप्य है। इससे बढ़कर उनका दूसरा दुःखान्त नाटक 'मायार खेला' निकला।

करवारसे लौटनेके पश्चात् रवीन्द्रनाथकी मानसिक स्थिति बदल गयी थी। अब पहलेकी तरह निराशा न थी। आदर्श विहीन जीवनको साहित्यका मजबूत आधार मिल गया था। प्रभात संगीतके निकलनेके बादसे जीवन पूर्ण और हृदय दृढ़ हो गया था। साहित्य-लक्ष्यपर स्थित हो जानेके कारण, इधर वे लगातार लेखनी-संचालन करते गये। 'आलोचना' में उनके कई प्रबन्ध निकले।

समालोचक, रवीन्द्रनाथ प्रथम श्रेणीके हैं। शब्दोंको सजाने और सत्यको लापता करनेवाले समालोचकोंकी तरह ये नहीं है। इनकी समालोचना चुभती हुई, यथार्थ ही सत्यको भाव और भाषाके भूषणोंके साथ रखनेवाली हुआ करती है। इसी समय, 'राजर्षि' नामक एक उपन्यास इनका लिखा हुआ निकला, पीछेसे यह नाटकमें 'विसर्जन' के नामसे बदल दिया गया। यह उच्च कोटिका नाटक माना जाता है। इसके बाद, 'समालोचना', उनके प्रबन्धोंका दूसरा खण्ड प्रकाशित हुआ। इन दिनों बंगालमें बंकिमचन्द्रकी तूती बोलती थी। बड़े-बड़े साहित्यिक उनकी धाक मानते थे। उनके उपन्यासोंका खूब प्रचार बढ़ रहा था। बंकिमचन्द्रकी प्रतिभाकी ओर रवीन्द्रनाथ भी आकृष्ट हुए। दोनोंमें मित्रता हो गयी लेकिन कोई भी एक दूसरेके व्यक्तित्वको दबा नहीं सका। कुछ ही दिनों बाद मित्रताका परिणाम घोर प्रतिवाद हो गया। रवीन्द्रनाथकी 'हिन्दू-विवाह' पर दी गयी वक्तृताने दोनोंमें विवाद ला खड़ा कर दिया। जिस-पर रवीन्द्रनाथके प्रयोग ज्यादा जोरदार जान पड़ते हैं, समयके खयालसे आदर्श अवश्य ही बंकिमचन्द्रका बड़ा था। यह १८८७ ई० का विवाद बड़े ऊँचे दर्जेका है। इसके अतिरिक्त १८८८ ई० में कई और कविताएँ लिखकर रवीन्द्रनाथने बालिका-विवाहकी खबर ली है।

यौवनकी पूरी हद तक पहुँचनेके पहले ही रवीन्द्रनाथका 'कड़ी ओ कोमल' पुस्तिकाकार निकला। उनके छन्द और संगीतके सम्बन्धपर विचार करने-वाले पश्चिमी समालोचकोंकी समझ में नहीं आया कि रवीन्द्रनाथ पर वास्तवमें संगीतका प्रभाव अधिक है या छन्दोंका। दोनों इस खूबीसे परिस्फुर कर दिये जाते हैं कि समालोचकोंकी बुद्धि काम नहीं देती—वे जब जिसे देखते हैं तब उसे ही रवीन्द्रनाथकी श्रेष्ठ कारीगरी समझ लेते हैं। हमारे विचारसे रवीन्द्रनाथ दोनोंके सिद्ध कवि हैं। संगीतपर उनका जितना जबरदस्त अधिकार है उतना ही अधिकार छन्दोंपर है।

१८८७ ई० से १८९५ ई० तक रवीन्द्रनाथका साहित्यिक कार्य यौवनकी विक-सित अवस्थाका कार्य है। इस समय उन्हें कोई अशांति नहीं, घात-प्रतिघातोंसे चित्तको क्षोभ नहीं होता, सहनशीलता काफी आ गई है और सौन्दर्यको परा-

काष्ठा तक पहुँचानेकी कुशलता भी हासिल हो गयी। भाषाके पंख बढ़ गये हैं, भावना असीम-स्वर्गकी ओर इच्छानुसार स्वच्छन्द भावसे उड़ सकती है।

१८८७ ई० में रवीन्द्रनाथ गाजीपुर गय। कल्पनाकी मृदुल गोदका सुकुमार युवक-कवि, हरे भरे दृश्योंसे घिरा हुआ, अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये दत्त-चित्त हो रहा है। 'मानसी' के अधिकांश पद्य यहीं लिखे गये थे। मानसीमें रवीन्द्रनाथ कविताकी नन्दन-भूमिमें हैं—उसके एकमात्र प्रियतम कवि।

मानसीमें, जहाँ, 'भैरवी' जैसी भावात्मक उत्कृष्ट कविताएँ हैं, वहाँ, 'सूर-दासेर प्रार्थना' और 'गुरु गोविन्द' जैसी ऐतिहासिक, शांति-रससे भरे हुए, उच्चकोटिके शिक्षाप्रद पद्य भी हैं। 'बंग-वीर'की तरह हास्य-रसकी कविताएं भी कई हैं। 'मानसी' पाठकोंकी मानसी ही है।

मानसीके बाद 'राजा ओ रानी' निकला। यह नाटक रवीन्द्रनाथके उच्च-कोटिके नाटकोंमें है।

गाज़ीपुर छोड़नेके बाद रवीन्द्रनाथकी इच्छा हुई कि ग्रैण्डट्रंक रोडसे, बैलगाड़ीपर सवार हो, पेशावरसे बंगाल तकका भ्रमण करें। लेकिन उनकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। उनके पिता, महर्षि देवेन्द्रनाथने उन्हें आज्ञा दी, "कुछ काम भी करो"। सियालदामें जमींदारीका काम था। पहले तो कामके नामसे रवीन्द्रनाथ कुछ डरे, परन्तु पीछे सम्मति दे दी। जमींदारी संभालनेसे पहले दोबारा कुछ कालके लिये वे विलायत हो आये। अबकी योरप भरमें पर्यटन किया और योरोपियन और जर्मनी संगीत सीखकर लौटे। उनकी यात्राका विवरण 'योरोपियन यात्रीकी डायरीके' नामसे निकल चुका है।

लौटकर सियालदामें जमींदारी सँभालने लगे। इस समय रवीन्द्रनाथकी उम्र तीस सालकी थी। तमाम सभ्य संसारके लोगोंसे मिलकर भारतके सम्बन्ध-में उन्होंने अपना स्वतन्त्र विचार निश्चय कर लिया था। वे समझ गये थे कि देशको शिक्षित करनेके लिये किस उपायका अवलम्ब उचित होगा। वर्तमान शिक्षा देशको ज्ञानके आधारपर स्थित नहीं रख सकती। वह शक्ति इसमें नहीं। यह शिक्षा तो नौकरोंकी ही संख्या बढ़ा सकेगी। इस समयके विचारपूर्ण लेखोंमें उन्होंने इस सम्बन्धमें लिखा भी है। जितने वर्तमान आन्दोलन हो रहे हैं

इनमें देशको उन्नतिशील करनेके अनेक आन्दोलनोंपर पहले ही रवीन्द्रनाथ लिख चुके हैं, परन्तु आज उनसे वे अलग कर दिये जाते हैं। इन दिनों जातीय शिक्षाको जो महत्व दिया जा रहा है और जिसके लिये जितने ही राष्ट्रीय स्कूल खुल रहे हैं, इस प्रसंगपर बहुत पहले ही रवीन्द्रनाथ लिख चुके हैं। दूरदर्शिता रवीन्द्रनाथमें हद दर्जेकी थी। उनकी प्रखर दृष्टि जिस तरह सौन्दर्यकी कुछ बातोंका आविष्कार कर लेती, उसी तरह दूरस्थित भविष्यके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयोंको भी वह प्रत्यक्ष कर लेती थी। रवीन्द्रनाथ केवल कवि ही नहीं, वे एक ऊँचे दर्जेके दार्शनिक भी हैं। यह रवीन्द्रनाथका साधना-समय था। इस समयके लिये साधनाके अंगरेजी-व्याख्यानोंमें रवीन्द्रनाथकी दूरदर्शिताके अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। 'भारती' में इन व्याख्यानोंका अनुवाद लगातार निकलता और 'भारती' से अन्य पत्रिकाओंमें भी उद्धृत हुआ करता था। इस समय रवीन्द्रनाथकी प्रतिभा सर्वतोमुखी हो रही थी। वे कविता तो करते ही थे, राजनीतिक और दार्शनिक भावनाओंके भी केन्द्र हो रहे थे।

जमींदारीका काम करते समय प्राकृतिक आनन्द रवीन्द्रनाथको खूब मिलता था। इनकी जमींदारी एक जगहपर नहीं थी। रवीन्द्रनाथने अपने एक प्रबन्धमें, हाल ही में लिखा है, उनकी जमींदारी तीन जिलोंमें है। हिस्सेमें बँटी रहनेके कारण बोट (छप्पर वाली नाव) पर सवार होकर प्रकृतिके मनोहर दृश्योंका अन्तरंग आनन्द प्राप्त करनेका इन्हें खासा सुयोग मिल गया। अधिकांश समय पद्माके विशाल वक्षःस्थलपर व्यतीत होता था। नदीपर रवीन्द्रनाथकी कविताएँ भी बहुत-सी हैं और सब एकसे एक बढ़कर।

जमींदारीका काम लेकर सर्वसाधारणसे मिलनेका मौका भी रवीन्द्रनाथको मिला। वे पहले भी मनुष्य-प्रकृतिका निरीक्षण किया करते थे। अपने जोड़ासाँको भवनसे लोगोंको अनेक प्रकारसे नहाते हुए देखकर उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। इस विषयपर वह स्वयं लिख चुके हैं। उसी मकानके इधर-उधर झोपड़ोंके रहनेवाले निर्धन गृहस्थोंका व्यवहार, उनका पारस्परिक आदान-प्रदान, उनकी दिनचर्या आदि देखकर उनके जीवनपर चुपचाप एकान्तमें

वे विचार किया करते थे। परन्तु यहाँ उन्हें व्यक्तिगत रूपसे गरीब किसानोंके साथ व्यवहार करना पड़ा। इससे जीवनकी भीतरी अवस्था, उसके सुख और दुःखके चित्र वे अच्छी तरह देख सके। साहित्यका एक अंग और जोरदार हो गया।

जमींदारीके कार्यमें रवीन्द्रनाथने अच्छी योग्यता दिखायी। कार्यमें चारुता आ गयी और जमींदारी पहलेसे सुधर गयी। रवीन्द्रनाथने सिद्ध कर दिया कि प्रबन्ध कार्योंमें भी वे दक्ष हैं। उन्होंने कृषिकी उन्नति की। कितने ही उपाय पैदावार बढ़ानेके निकाले। लोगोंको उनसे सन्तोष हुआ।

इस समय रवीन्द्रनाथ सुखी थे। उनकी दिन-चर्या भी अच्छी थी। उनके लेखोंमें सूचित है, पद्माकी गोद उन्हें बहुत पसन्द आयी। छिन्न-पत्रके नामसे उनकी कुछ गद्य-पंक्तियाँ और 'चित्रा' इसी समय लिखी गयी थी। चित्राका स्थान रवीन्द्रनाथकी कविताओंमें बहुत ऊंचा है। लेकिन क्रमशः उनकी कविता उन्नति करती गयी। इसलिये कहना पड़ता है कि वादकी कविताएँ और अच्छी हैं। वैसे तो जीवनके अन्तिम दिनोंमें रवीन्द्रनाथने जो कविताएँ लिखी हैं, हमारी समझमें उनका स्थान और ऊँचा है। सौन्दर्यकी इतनी मनोहर सृष्टि बहुत कम मिला करती है।

इन्हीं दिनों चित्रांगदा नाटक निकला। रवीन्द्रनाथके नाटकोंमें चित्रांगदाकी जोड़का दूसरा नाटक नहीं। यह सौन्दर्यके विचारसे कहा जा रहा है। चित्रांगदापर प्रतिकूल समालोचना बहुत हो चुकी है। बंगालके प्रसिद्ध नाटककार डी० एल० राय महाशयकी एक तीव्र आलोचना निकल चुकी है। उन्होंने आदर्शका पक्ष लिया था। चित्रांगदाके सौन्दर्यको आदर्श भ्रष्ट करनेवाला करार देते हुए उन्होंने समालोचना समाप्त की है। परन्तु रवीन्द्रनाथकी कवित्व-शक्तिकी उन्होंने मुक्तहस्त होकर प्रशंसा की है। यह सच है कि चित्रांगदा पौराणिक आख्यानके आधारपर लिखी गयी है, इसलिये पौराणिक भावोंकी रक्षा होनी चाहिये थी, अर्जुन और चित्रांगदाके विषय-वासनाकी ओर जितना ध्यान रवीन्द्रनाथने दिया है, उतना उनकी शुद्धि और सन्तोषपर नहीं दिया।

डी० एल० रायका यह विवाद आदर्शकी दृष्टिसे बुरा न था। परन्तु कुछ भी हो, कवि स्वतन्त्र है। उसपर ये दोष नहीं मढ़े जा सकते। दमयन्ती जैसी सतीके सम्बन्धपर लिखते हुए जैसा नग्न चित्र श्रीहर्षने खींचा है, वह उनके नैषधमें प्रत्यक्ष कीजिये।

कुछ लोग चित्रांगदाको नाटक न कहकर उत्कृष्ट कविता कहते हैं। रवीन्द्रनाथके अंगरेज समालोचक तो चित्रांगदाके अंगरेजी अनुवाद चित्रापर मुग्ध हैं। वे नाटकोंमें 'विसर्जन' को रवीन्द्रनाथका श्रेष्ठ नाटक मानते हैं। साथ ही उनका कहना है कि विसर्जन बंगला-साहित्यका सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसी समय 'सोनार तरी' निकली। इसकी अधिकांश कविताएँ छायावादपर ह। परन्तु हैं बड़ी सुन्दर। यह रवीन्द्रनाथकी नवीनता लेकर आयी। दूसरी कविताओंसे इसकी प्रकाशन-धारा बिल्कुल नये ढंगकी है। कुछ दिनों बाद 'चिना' निकली। जीवनके प्रथमार्द्ध कालमें इससे अधिक मोहिनी सृष्टि रवीन्द्र-नाथकी दूसरी नहीं। सौन्दर्य इसमें हद तक पहुँच गया है। कहते हैं इनकी 'उर्वशी' कविता संसार भरकी एक श्रेष्ठ कविता है। उर्वशी आगे, उद्धरणमें, दी गयी है।

१८९५ ई० में 'साधना' समाप्त हो गई। इसी साल 'चैताली' के अधिकांश पद्य निकले और १८९६ ई०में कविताओंका पहला संग्रह प्रकाशित हुआ। साधनाके निकल जानेके कुछ ही समय बाद 'चैताली' छप कर तैयार हुई। 'चैताली' के नामकरणमें भी कविता है। एक तरहके धान चैतमें होते हैं। उसीके नामपर चैताली नाम रक्खा गया। चैताली यानी रवीन्द्रनाथ चैतके अन्तिम दाने चुन रहे हैं। १८८७ ई० से १९०० ई० के अन्दर रवीन्द्रनाथकी चार और प्रसिद्ध पुस्तकें निकलीं—कल्पना, कथा, कहानी और क्षणिका।

१९०१ ई० में मृत 'बंगदर्शन' में फिरसे जान आई—रवीन्द्रनाथ उसके सम्पादक हुए।

इसी साल बोलपुरके पासवाले इनके आश्रमकी नींव पड़ी। रवीन्द्रनाथके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथके यहाँ, ऊँची और खुली भूमिपर, बड़े-बड़े पेड़ देख

कर साधना करनेकी इच्छा हुई थी। अब शांतिनिकेतनके नामसे यह संसारमें प्रसिद्ध है। इस समयसे ज्यादातर रवीन्द्रनाथ यहीं रहा करते थे। शांति-निकेतन भारतीय ढंगका विश्व-विद्यालय हो, यह रवीन्द्रनाथकी आन्तरिक इच्छा थी। भविष्यके विश्वविद्यालयको वे वतौर एक छोटेसे स्कूलके चलाने लगे। कलकत्ता विश्वविद्यालयकी शिक्षासे उन्हें वड़ी घृणा थी। वे इसकी बुनियाद तक खोद कर हटा देनेके लिये तैयार थे। भारतीय ढंगसे बालकोंको शांतिनिकेतनमें आदर्श शिक्षा मिलती है।

१९०१ ई० से १९०७ ई० तक रवीन्द्रनाथने उपन्यासलिखने में बड़ा परिश्रम किया। उनका 'गोरा' उपन्यास इसी समय निकला था। हृदयमें उत्साह भी उमड़ रहा था और वे सदा कर्म-तत्पर भी रहा करते थे। परन्तु एकाएक उनका सारा हौसला पस्त हो गया। जीवनकी धारा ही बदल गई। १९०२ ई० में उनकी स्त्रीका देहान्त हो गया। इस समय रवीन्द्रनाथका धैर्य देखने लायक था। हृदय दो टूक हो गया था, परन्तु शान्त गंभीरताके सिवा, प्रसन्न मुखपर दुःखकी छाया भी नहीं पड़ी। गंभीरताकी स्थितिमें एकान्तप्रियता स्वभावतः बढ़ जाती है। अतः रवीन्द्रनाथ कुछ दिनोंके लिये सांसारिक कुल सम्बन्ध तोड़कर अलमोड़ा चले गये। उनका छोटा लड़का माताके बिना एक क्षण भी न रहता था। रवीन्द्रनाथ बच्चेके लिये पिता व माता दोनों ही थे। 'कथा' की कुल कहानियाँ इस बच्चेके दिल-बहलावके लिये ही लिखी गयी थीं। इसी साल उन्होंने 'स्मरण' लिखा—'स्मरण' उनकी पत्नीकी स्मृतिपर लिखा गया था। इसके कुल पद्य मर्मस्पर्शी हैं। सौन्दर्यको हद तक पहुँचाना तो रवीन्द्रनाथके लिये बहुत आसान बात है। १९०३ ई० में उन्होंने एक दूसरा उपन्यास 'दी रेक' लिखा। इसमें हिन्दू परिवारका आदर्श दिखलाया गया है कि परिवारमें एक दूसरेके प्रति हिन्दुओंकी भाव-भक्ति, प्रेम और सेवा किस तरहकी होती है। १९०४ ई० में देश-भक्ति सम्बन्धी पद्योंका संग्रह, 'स्वदेश-संकल्प' के नामसे निकला। इसने बहुत जल्द लोक-प्रियता प्राप्त कर ली। १९०५ में 'खेया' निकली। इसी समय उनके छोटे लड़केकी मृत्यु हो गई।

१९०५ ई० में बंग-भंग आन्दोलन आरम्भ हुआ। बंगालके कोने-कोनेसे एक

ही आवाज उठने लगी। देश भक्ति दिखलानेका यह समय भी था। उस समय दलके दल बंगाली युवक स्वदेशी संगीत गाते हुए देशकी जनतामें नई आग फूँक रहे थे। परन्तु इस समय जितनी जोरदार आवाज रवीन्द्रनाथकी थी उतनी किसी दूसरेकी नहीं सुन पड़ी। कहते हैं कि राजनीति सम्बन्धी रवीन्द्रनाथके जैसे जोरदार और तर्क-सम्वद्ध प्रवन्ध अङ्गरेजी साहित्यमें भी बहुत कम निकलेंगे। विजय-मिलन, नामक वक्तृता रवीन्द्रनाथके जोशीले गद्यका उदाहरण है।

× × × ×

कवीन्द्र रवीन्द्र एकाधारमें दार्शनिक, वक्ता, लेखक, उपन्यासकार, नाट्य-कार, सुकवि और अच्छे अध्यापक हुए। आप अपनी नव नवोत्मेषशालिनी प्रतिभाको जब जिस ओर लगाते, वहीं वह अपना कमाल दिखा देती थी। आपने अपने सुशिक्षित कुटुम्वके लेखोंके सहारे 'भारती' नामकी एक उच्च कोटिकी साहित्यिक पत्रिका निकाली। आपही उसके सम्पादक थे। यह पत्रिका वादको आपहीकी कुटुम्बभुक्ता श्री सरलादेवी चौधुरानीके सम्पादकत्वमें और इसके वाद अन्य कई प्रवीण साहित्यिकोंके सम्पादकत्वमें निकलती रही और आज भी निकल रही है। बङ्ग भाषाके सामायिक साहित्यमें इस पत्रका बहुत ऊँचा स्थान सदासे रहा है। इन दिनों आप बङ्गदर्शन, प्रवासी, मावंच तथा विभिन्न पत्रोंमें अपनी उत्कृष्ट कहानियाँ, लेख और कविताएँ प्रकाशित कराया करते थे। आपकी इन कृतियोंसे समस्त बंगालमें स्फूर्ति होती थी। लेखोंमें आपके विचार सर्वथा नये होते थे; अतएव कभी-कभी प्रवीण साहित्यिक, साहित्यिक रवीन्द्रकी प्रतिभाकी उपेक्षा करना चाहते थे और उसका विरोध भी कर बैठते थे। पर आपका तो उस समय साहित्यपर सिक्का जम रहा था। इसलिये उन विरोधोंकी किसीने परवाह न की। रवीन्द्र द्वारा लिखित साहित्य दिन-दिन जनताका आदर प्राप्त करने लगा। रवीन्द्र बङ्ग-भाषा साहित्यके बहुत ऊँचे सिंहासनपर अधिष्ठित हो गये।

अपनी मातृभाषाकी सेवा करते-करते ही रवीन्द्रकी प्रतिभाने और भी चमत्कार दिखाना चाहा। अङ्गरेजी भाषापर आपका यथेष्ट आधिपत्य था।

अतएव अब आपने अङ्गरेजीमें भी अपनी कहानियाँ, लेख तथा कविताएं लिखनी शुरू कीं। उनका प्रकाशन होते ही अङ्गरेजी पठित जनतामें आपके अङ्गरेजी साहित्यमें अवतरण करनेका खूब स्वागत हुआ। फिर तो आप धारा-वाहिक रूपसे बंगला और अंगरेजी दोनों भाषाओंके पत्रोंमें अपने पुख्ता विचार भरे लेख प्रकाशित कराने लगे। इन लेखोंने अंगरेजी साहित्यपर अपनी धाक जमा दी। उससे कितने ही अंगरेज आपकी प्रतिभा और पाण्डित्यके कायल हो गये। अब रवीन्द्रको भला फुर्सत कहाँ? इंगलैण्ड और अमेरिकाके पत्रोंने रवीन्द्रके लेखोंको 'माडर्न रीव्यु' आदि पत्रोंसे उद्धृत कर अपने पत्रोंकी लोक-प्रियता बढ़ायी। इसके वाद ही आपने अंगरेजीमें अपनी चुनी हुई कहानियोंका एक संग्रह किया, जो कि लण्डनके एक प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेताने प्रकाशित कराया। उसके प्रकाशित होनेके साथ ही लाखों प्रतियाँ खप गयीं। संस्करण-पर संस्करण हुए उसके। फिर तो आपने अपने कई उपन्यास भी अंगरेजीमें अनुवाद कर प्रकाशित कराये और उनका अच्छा आदर हुआ।

रवीन्द्र बाबू लार्ड मेकालेकी शिक्षण-पद्धतिके चिर-कालसे विरोधी थे। उसकी व्यर्थताका अनुभव आपको बहुत दिनों पूर्व हो चुका था। एम० ए० और वी० ए० डिगरीधारी अंगरेजी शिक्षण-पद्धतिके चरम स्वर तक पहुँचे हुए विद्यार्थियोंका उद्देश्य-हीन, स्वदेशीय भावहीन जीवन आपकी निगाहोंमें बहुत दिनोंसे खटकता था। अतएव अपने देशके वालक और वालिकाओंको वास्तविक शिक्षासे शिक्षित करानेवाले एक आदर्श शिक्षालय स्थापनकी कल्पना आपके मस्तिष्कमें वहुत दिनोंसे उठ रही थी। उसकी सिद्धिके लिए विलक्षण कार्य-क्रमपूर्ण योजनाका निर्माणकर आपने पहले उसे मित्रों, फिर सर्वसाधारणमें उपस्थित किया। सभीने उस योजनाका हृदयसे अनुमोदन किया और हर सम्भव प्रकारसे सहायता भी प्रदान की। परिणाम यह हुआ कि रवीन्द्रनाथकी लगन, कल्पना और कार्य-तत्परताने अत्यन्त शीघ्र, प्राचीन विद्यापीठोंके आदर्श-पर शिक्षाके सर्वाङ्गोंसे पूर्ण एक शान्तिनिकेतन नामका आश्रम 'वोलपुर' की पवित्र हरिद्भूमिमें स्थापित कर दिया। स्वयं रवीन्द्र ही हुए उसके आचार्य, वंगालके, नहीं भारतके—नहीं नहीं विश्वके विज्ञानसे विचक्षणी भूत विद्वान्

हुए इसके अध्यापक और हुआ इसमें आदर्श शिक्षा आरम्भ। देवर्षि तुल्य ठाकुर द्विजेन्द्रनाथ इसके तत्वाध्यापक बनकर वहीं जीवन व्यतीत करने लगे। वे रवीन्द्रबाबूके बड़े भ्राता थे। इस युगके आदर्श तपस्वी थे। ज्ञानकी अत्यन्त उच्च सीमा प्राप्त कर ली थी उन्होंने। इसका पाठ्यक्रम भी सर्वाङ्गपूर्ण रखा गया। जिन्होंने इस संस्थाको देखा है, उनका स्पष्ट मत है, भारतमें इस जोड़की दूसरी शिक्षण-संस्था नहीं है। इसमें शिक्षा पाया हुआ विद्यार्थी सच्चा विद्वान् हो जाता है। रवीन्द्रने इसकी अधिवृद्धिमें गज़बका परिश्रम किया है।

शान्तिनिकेतनकी सुव्यवस्था कर साहित्यव्रती रवीन्द्र फिर अपने व्रतमें लग गये। आपने इस बार कुछ अद्भुत भावपूर्ण क्षुद्र कविताएँ लिखनी आरम्भ कीं। और इसी तमय हुआ उनका विदेश-भ्रमण। इस भ्रमणमें प्रकृति देवीका आपने अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण किया। स्वभावके कितने ही नूतन भाव मालूम हुए उन्हें। आध्यात्मिक भावोंके तो आप पहुँचे हुए प्रेमी ठहरे। इन सभी भावों और देश-विदेशके साहित्य अध्ययन तथा अनुभवने आपकी प्रतिभाका और भी विकास किया और इसके बाद जो लेखनी उठी, उसने तो कमाल हो कर दिया।

यह कमाल गीतांजलि हुई। गीतांजलि बङ्गालकी गीता बन गयी। घर-घर, कण्ठ-कण्ठपर नृत्य करना शुरू किया उसने। रवीन्द्रके परम मित्र मिस्टर एण्ड्रूजने भी सुना उसे। वह लोट पोट हो गया उसके भावोंपर और उसने छाती ठोंक कर कहा संसारके सम्मुख कि विश्व-साहित्य भरमें इस जोड़का ग्रन्थ नहीं निकलेगा। रविबाबूको उसने गीतांजलिको अंगरेजीमें लिखनेके लिये प्रेरित किया। कविकी समझमें यह बात आ गई और जुट गये वे अंगरेजी गीतांजलिको लिखनेमें। पुस्तक पूरी हुई और सुन्दर प्रकाशन हुआ उसका अंगरेजी साहित्यमें। निकलते ही तो एण्ड्रूजकी वाणी सत्य हुई। तहलका मचा दिया अंगरेजी साहित्यमें उस ग्रन्थ रत्नने। विश्वद्रष्टाकी उसपर नजर गयी। उन्होंने उसे पढ़ा, अपनी कसौटीपर कसा और विशेष लक्षण युक्त पाया। पत्रोंमें उसकी चर्चा हुई। काव्यके मर्मज्ञोंने उसे विश्वसाहित्यका एक आभापूर्ण रत्न बताया और यूरोपकी सबसे बड़ी साहित्यिक संस्था 'विज्ञान-कला-

साहित्य-परिषद्' का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। परिषद्के सदस्योंने रवि-बाबूकी गीतांजलिको देखा और उसे विश्वसाहित्यकी "सर्वश्रेष्ठ पुस्तक" करार देकर नोबिल प्राइज या आदर्श पुरस्कार पानेका हकदार बताया। परिषद्ने रवीन्द्रको एक लाख बीस हजारका सर्वविश्रुत पुरस्कार प्रदान किया और अपनी गुणग्राहकतासे सिद्ध किया कि रवीन्द्र "कवीन्द्र' हैं।

इस पुरस्कारको पानेसे रवीन्द्रकी अत्यधिक ख्याति हुई। गीतांजलिके संस्करणपर संस्करण और संसारकी सभी श्रेष्ठ भाषाओंमें उसके अनुवाद हुए। संसार एक भारतीयकी उस अद्वितीय प्रतिभाको देखकर दंग रह गया। उसमें जो अद्भुत दार्शनिक तथा आध्यात्मिक भाव भरे हुए थे, उनके आगे सभीने श्रद्धाके साथ अपने अपने मस्तिष्क झुकाये।

इस विश्व-श्रद्धाको पाकर रवीन्द्र भारतके पूज्य महापुरुष प्रसिद्ध हुए। अमेरिका, जापान, चीन, जर्मनी, जिनेवा, इटली, फ्रांस और इङ्गलैंडकी राष्ट्रीय संस्थाओंने कवीन्द्रको अपने यहाँ आनेके लिये निमंत्रण दिये, जिनकी रक्षा रवि-बाबूने क्रमशः कई बार यूरोप यात्रा करके की। चीन, जापान, अमेरिका, इटली और फ्राँसमें रवीन्द्रबाबूने वहाँकी प्रसिद्ध संस्थाओंमें अपने दार्शनिक भाव भरे विचार काव्य-कुशल भाषामें व्याख्यान रूपमें प्रकट किये। प्रत्येक संस्था-पर सुन्दर लेखों द्वारा अपने भावोंका प्रकाशन किया और विश्व-प्रेममें आबद्ध होनेके लिये सब राष्ट्रोंके विद्वानोंसे अनुरोध किया।

आपकी इस विद्वत्तापर विदेशी ही मुग्ध हुए हों, सो नहीं, भारत गवर्नमेंटने भी आपको नाइट या 'सर' तथा "डि लिट्" जैसी सर्वोच्च उपाधियोंसे विभूषित किया।

रविबाबू जैसे कुशल साहित्य निर्माता हैं, वैसे ही उत्कृष्ट संगीतज्ञ और सफल अभिनेता भी हैं, आपने अपने लिखे नाटकोंमें प्रधान पात्रोंका स्वयं पार्ट किया है। कलकत्ता, बोलपुरमें हुए नाटकोंमें तो आपने अपनी नाट्यकारिताका परिचय दिया ही है साथ ही यूरोपके विभिन्न देशोंमें भी आपने नाटक स्वयं खेले और उनमें यशप्रद अभिनय कर वहाँकी जनताको मुग्ध किया है।

इन सब बातोंके अलावा कवि रवीन्द्रनाथ भारतके आदर्श समाज-सुधारक हैं। और वह सुधार आजकलके अन्यान्य सुधारकोंकी भाँति केवल सिद्धान्तोंमें ही सीमित नहीं है, आपके चरित्र और प्रत्येक कार्यमें उसका निदर्शन मिलता है। आपका परिवार भी एक उत्कृष्ट सुधरा हुआ परिवार है। जैसी आपकी सुधार सम्वन्धी उक्ति है, वैसी ही आपकी कृति भी है। भारतके राजनीतिज्ञोंमें—देश नेताओंमें भी आपका एक खास स्थान है। स्वदेश-प्रेमके आप जीवन्त स्वरूप हैं। देशकी प्रत्येक बड़ी-बड़ी समस्याओंमें आपने सदा भाग लिया है और उन-पर बड़ी निर्भीकतासे अपने विचार प्रकट किये हैं। आपका यह स्वदेश-प्रेम केवल लेखों और व्याख्यानों तक ही रहा हो यह नहीं, परन्तु आपने उसके लिये अपूर्व स्वार्थ त्याग और अपनी असीम निर्भीकताका भी परिचय दिया है।

सन् १९१८ के रालेक्ट एक्टके विरुद्ध देशके सङ्गठित सत्याग्रहकी वात लोग भूले न होंगे। उस समय भारतकी नौकरशाहीने पंजाबमें जो नरसंहार-लीला की थी, वह उसके जीवनोतिहासकी अत्यन्त कालिमा पूर्ण कथा है। रविबाबूने जिस दिन पंजावके मार्शललाके अमानुषिक अत्याचारोंकी वात सुनी, उस समय आपके स्वदेश प्रेम प्लावित हृदयको बड़ी भारी चोट पहुँची। भारतकी पश्चिम दिशाकी लगी हुई चोटका प्रत्याघात पूर्व दिशाको अनुभूत हुआ और खूब हुआ। रवि वाबूकी देश-प्रणता जागी। आपने वड़ी निर्भीकतासे नौकर-शाहीके पंजावी नृशंस अत्याचारोंपर घोर घृणा प्रकटकी, पुरजोर शब्दोंमें बड़ी निन्दा की और तत्काल सरकारकी दी हुई 'नाइट' आदिकी उपाधियाँ वाइसरायके पास लौटाकर अपने अनुपम सहयोगका परिचय दिया। उस दिन भारतने जाना कि रविबाबूमें आवश्यकता पड़नेपर अनुपम स्वार्थ त्यागकर दिखाने योग्य भी आत्मवल है।

एक उसी वार आपने सरकारके उच्च पदस्थ अफसरोंको फटकारा हो सो नहीं, पिछले दिनों वङ्गालके गवर्नर सर लिटन साहवने जब अपने एक व्याख्यानमें भारतवासियोंको अत्यन्त अपमानकारक शब्दोंमें स्मरण किया, रवीन्द्रबाबूने उस स्मरणको भारतीय नारी जातिका महान अपमान माना, और लार्ड लिटनको खुले खजाने वह फिटकार वताई कि लाट साहब उसकी सफाई ही देते फिरे।

रवि बाबूका जीवन-पथ बहुत विस्तृत है। उन्होंने अपने लोकोत्तर कार्योंसे भारतका मुखोज्वल किया है। आज विश्वसभामें भारतको एक आदरपूर्ण स्थान रवीन्द्रनाथने ही दिलाया है।[१]

---

१. रविबाबू के सम्पूर्ण जीवन और साहित्यिक कृतित्व के लिये परिशिष्ट देखिये।

प्रतिभाका विकास

यों तो आत्म-विश्वास सभी मनुष्योंको होता है—सभीलोग अपनी शक्तिका अन्दाजा लगा लेते हैं, फिर कवियों और महाकवियोंके लिये यह कौन बहुत बड़ी बात है। दूसरे लोगोंको तो अनुमान मात्र होता है कि उनमें शक्तिकी मात्रा इतनी है, परन्तु वे उस अनुमानको विषद रूपसे जन-समाजके सामने रख नहीं सकते; कारण, उनपर वागदेवीकी वैसी कृपा-दृष्टि नहीं होतीं; परन्तु जो कवि हैं, उन्हें जब अपनी प्रतिभाका ज्ञान हो जाता है तब वे, दूसरोंकी तरह निर्वाक रहकर अथवा थोड़े ही शब्दोंमें, अपनी प्रतिभाका परिचय नहीं देते। वे तो अपने लच्छेदार शब्दोंमें पूर्ण रूपसे उसे विकसित कर दिखानेकी चेष्टा करते हैं। नहीं तो फिर सरस्वतीके वरपुत्र कैसे? महाकवि श्रीहर्षने अपने नैषध-काव्यकी अध्याय-समाप्तिमें और कहीं महाकवि भवभूतिने भी, कैसे पुरजोर शब्दोंमें अपने महत्वकी याद की है, यह संस्कृतके पण्डितोंको अच्छी तरह मालूम है! परन्तु कवियों और महाकवियोंके लिये इस तरहका वर्णन न तो अतिशय-कथन कहा जा सकता है और न प्रलाप ही। यह तो उनके आत्म-परिचयके रूपमें किया गया उनका उतना ही स्वाभाविक उद्गार है जितना प्रकृतिका वसन्त। अस्तु, प्रतिभाके विकास-कालमें महाकवि रवीन्द्रनाथ किस तरहसे हृदयकी बातें खोल रहे हैं, सुनियेः—

"आजि ए प्रभाते सहसा केरने
पथहारा रबि-कर
आलय न पेय पड़ेछे आसिये
आमार प्राणेर पर
बहु दिन परे एकटी किरण
गुहाय दियेछे देखा
पड़ेछे आमार आंधार सलिले
एकटी कनक-रेखा।"

(आज इस प्रभातके समय, सूर्यकी एक किरण एकाएक अपनी राह क्यों भूल गई, यह मेरी समझमें नही आता। वह कहीं ठहरनेकी जगह न पा, मेरे प्राणोंपर आकर गिर रही है। मेरे हृदयकी कन्दरामें बहुत दिनोंके बाद किरण दिखायी दे रही, है—मेरी अन्धकार सलिल राशिपर सोनेकी एक रेखा खिंची हुई है !)

पाठक ! वर्णनाकी मनोहारितापर ध्यान दीजिये। हृदयकी इस उक्ति को अपने विचारके तराजूपर तोलकर देखिये, यह पूरी उतरती है या स्वाभावोक्तिमें कहीं कोई कसर, कोई त्रुटि, कोई वाचालता, कोई बनावट या कोई मनगढ़न्त है।

कवि हृदयका यह प्रथम प्रभात है। बाहर जिस किरणको पाकर कविने इतनी उक्तियाँ कही हैं, वह किरण बाहरी संसारके भगवान भुवन-भास्करकी किरण नहीं, वह वनदेवीकी ही प्रतिभाकी किरण है—उसीकी कनक-रेखा कविके हृदयपटपर खिच गयी है। बहुत दिनोंतक हृदयमें अन्धकारका राज्य था, वहाँ किसी तरहकी ज्योति पहुँच न सकती थी। कवि भी अँधेरेमें पड़ा हुआ था। जिस दिन हृदयमें एकाएक इस कनक किरणका प्रवेश हुआ, कवि चौंक पड़ा। अपन महान स्वरूपको देखकर वह मुग्ध हो गया। उसे पहले स्वप्नमें भी यह विश्वास न था कि वह इतना महान है—उसके भीतर इतनी शक्ति है—इतनी विशालता है। वह इस सम्बन्धमें स्वयं कहता है—

“प्राणेर आवेग राखिते नारि,
थर थर करि कांपिछे वारि,
टलमल जल करे थल थल,
कल कल करि धरेछे तान।
आजि ए प्रभाते कि जानि केरने
जागिया उठेछे प्राण !

(मैं अपने प्राणोंके आवेगको रोक नहीं सकता। मेरे हृदयकी सलिल-राशि थर-थर काँप रही है। जल टलमल कर रहा है—उथल-पुथल मचा रहा

है--कल-कल स्वरसे रागिनी अलाप रहा है। आज इस प्रभातमें मेरे प्राण क्यों जग पड़े, यह मेरी समझमें नहीं आता !)

देखा आपने ? यह काव्य-प्रतिभाके प्रथम विकासका समय है। हृदय-खुल गया है। हृदय-सरोवरकी सलिल-राशि छोटी-छोटी लहरियोंसे मचल रही है। कविको यह देखकर आश्चर्य हो रहा है। उसने अपने जीवन-कालमें अपनी अवस्थाका इस तरह विपर्यय कभी नहीं देखा। यह सब उसकी समझमें नहीं आता। वह आश्चर्य-चकितसा अपने हृदयमें लहरियोंकी चहल-पहल देख रहा है, उनके मृदु शब्दोंमें रागिनोकी स्पष्ट झंकार सुन रहा है और वही रागिनी संसारको वह सुना रहा है।

जबतक कविके हृदयकी आँखें नहीं खुली थीं तबतक उसे अपनी पूर्व अवस्थाका भान न था—जिस अंधकारमें पहले वह था, उसके सम्बन्धमें वह कुछ भी न जानता था। अंधेरेमें पड़ा हुआ ही वह अपने सुखके कितने ही स्वप्न देखा करता था किन्तु उसे अँधेरा न जानता था, इसलिये कहता है--

"जागिया देखिनु चारिदिके मोर
पाषाणेरमित कारागार घोर
बुकेर उपरे आंधार बहिया
करिछे निजेरे ध्यान
नाजानि केनरे एतो दिन परे
जागिया उठेछे प्राण !"

(जगकर मैंने देखा, मेरे चारों ओर पत्थरोंका बनाया हुआ घोर कारा-गार है, और मेरी छातीपर बैठा हुआ अन्धकार अपने ही स्वरूपका ध्यान कर रहा है। इतने दिनों बाद क्यों मेरे प्राण जग पड़े, यह मेरी समझमें ही नहीं आता।)

जब कविकी आँखें खुल जाती हैं, उसे अच्छे और बुरेका विवेक हो जाता है, तभी वह अपनी और दूसरोंकी परिस्थितिका विचार कर सकता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ जगकर देखते हैं कि उनके चारों ओर पत्थरोंका कारा-

गार है। भला यह पत्थरोंका कारागार है क्या चीज ? इसके यहाँ कई अर्थ हो सकते हैं और सभी सार्थक। पहले तो यह कहना चाहिये कि यह अज्ञान है क्योंकि जगकर कविने पहले अपनी पूर्व-परिस्थिति यानी अज्ञानको ही देखा होगा। भयानक अवस्थामें पड़े हुए भी जिसका ज्ञान कविको नहीं हो रहा था, पहले उसीकी मूर्ति देखी होगी। अर्थात् ज्ञान होनेपर पहले कविने अपने अज्ञानका अनुभव किया होगा। परन्तु कवि कहता है, मेरे चारों ओर पत्थरोंका घोर कारागार है। इस 'चारों ओर' शब्दसे सूचित होता है कि कविको वाहर भी घोर अज्ञान देख पड़ा होगा—उसे बाहरके मनुष्य–उसके पास-पड़ोस वाले भी अज्ञान-दशामें दीख पड़े होंगे। कविका यह दर्शन निरर्थक नहीं। उसके चारों ओर जो प्रकृति नजर आई, वह भारत है। यहाँ पत्थरके कारागृहमें कविके साथ भारत भी है। आगेकी पंक्तिमें यह अर्थ और समझमें आ जाता है। जहां कवि कहता है,—हृदयपर अंधकार वैठा हुआ अपना ध्यान कर रहा है, वहाँ अंधकारके साथ कवि अपने मोहका भी उल्लेख करता है और देशको दुर्दशाग्रस्त करने वाले विदेशियोंका भी। यहाँ विदेशियोंकी तुलना अन्धकारके साथ करके, उसे अपने और साथ ही देशके हृदयपर बैठकर अपना ध्यान करता हुआ यानी अपना स्वार्थ निकालता हुआ बतलाकर कवि देशकी दुर्गतिका चित्र ही आँखोंके सामने रख देता है। यह अंकन इतनी सफलतापूर्वक किया गया है कि इसकी प्रशंसाके लिये कोई योग्य शब्द ही नहीं मिलता। यह पद्य एक ही अर्थकी सूचना नहीं देता, उसका पहला अर्थ खुला है, और वह पढ़नेके साथ पहले आध्यात्मिक भावकी ओर इंगित करता है। हृदय ज्ञान होनेसे पहले अन्धकाराच्छन्न हो रहा है। वहाँ किसी प्रकारका प्रकाश प्रवेश नहीं कर पाता। अन्धकार वहां वैठा हुआ अपने ध्यानमें मग्न है। हृदयमें अनेक प्रकारकी अविद्याओंका राज्य हो रहा है। अविद्याके प्रभावसे वहाँ जितने प्रकरके अनर्थ हो सकते हैं, हो रहे हैं। ऐसे समय एकाएक हृदयपरकी वह काली यवनिका उठ जाती है वहाँ विद्याका प्रकाश फैल जाता है। अचानक यह परिवर्तन देखकर कवि अपने प्रकाश पुलकित दृश्यसे कह उठता है—आज इतने दिनों बाद मेरे प्राणोंमें यह कैसा जागरण हो गया ?

अपने प्रेम और आनन्दके अनादि प्रवाहमें वहता हुआ कवि कहता है--

"घुमाये देखिरे जेन स्वपनेर मोह माया,
पड़ेछे प्राणेर माझे एकटी हासिर छाया।
तारि मुख देखे देखे, आंधार हासिते सेखे,
तारि मुख चेये चेये करे निशि-अवसान,
सिहरि उठेरे वारि दोलेरे दोलेरे प्राण,
प्राणेर माझारे भासि, दोलेरे दोलेरे हासि,
दोलेरे प्राणेर परे आशार स्वपन मम
दोलेरे तारार छाया सुखेर आभास सम।
प्रणय प्रतिमा जबे स्वपने देखेरे कवि,
अधीर सुखेर भरे कांपे बुक थरे थरे,
कम्पमान वक्ष परे दोले से मोहिनी छवि,
दुखीर आधार प्राणे सुखेर संशय यथा,
दुलिया दुलिया सदा मृदु मृदु कहे कथा;
मृदु भय, कभु मृदु आश
मृदु हासी, कभु मृदु श्वास।
बहु दिन परे सोन विस्मृत गानेर तान,
दोलेरे प्राणेर माझे दोलेरे आकुल प्राण;
आध, आध, जागिछे स्मरणे,
पड़े पड़ नाहीं पड़े मने।
तेमनी तेमनी दोले, ताराटी आमार कोले,
कर ताली दिये वारि कल कल गान गाय
दोलाये दोलाये जेनो घूम पड़ाइते चाय।"

(सोते हुए मैंने देखा, स्वप्नकी मोह-मायाकी तरह मेरे प्राणों में हँसीकी एक छाया पड़ी हुई है। उसीका मुँह देख देखकर अन्धकार भी हँसना सीखता है और उसीका मुँह जोहता हुआ वह रात्रिका अवसान कर देता है; (यह देख) पानी भी सिहर उठता है और मेरे प्राण भी झूमते रहते हैं। प्राणोंके

भीतर तैरती हुई हँसी भी झूम रही है—उसमें भी मन्द-मन्द कम्पन हो रहा है, और मेरे प्राणोंमें मेरी आशाका स्वप्न झूम रहा है और वहाँ झूमती-हिलती-कांपती है सुखके आभासकी तरह तारोंकी छाया। जब स्वप्नमें कवि अपनी प्रणय-प्रतिमाको देखता है, तब अधीर—सुखपर निर्भर—हृदय थर-थर काँपने लगता है और उस कम्पमान हृदय पर काँपती है वह मोहिनी छवि—जिस तरह दुखीके हृदयपर अन्धकार—प्राणोंमें सुखका संशय सदा काँप-काँप कर मृदु-मृदु बातें किया करता है। जिसमें मृदु भय भी है और कभी मृदु आशा भी झलक जाती है—मृदु हंसी है और कभी मृदु साँस भी वह चलती है। वह बहुत दिनोंके बाद सुनी हुई भूलें संगीतकी तान हैं, जो प्राणोंमें काँप रही हैं और जिससे प्राण भी काँप रहे हैं, जिसकी अध-मुदी स्मृति मेरे स्मरण-पथपर जग रही है—अभी अभी आती है और फिर मुझे विस्मृतिमें छोड़ जाती है—इसी तरह वह तारा मेरी गोदमें काँप रहा है, लहरियाँ तालियाँ बजा-बजा कर गाती हैं, मुझे झूलेमें झुलाकार मानों सुला देना चाहती हैं।)

जागरणके बाद यह कविका आनन्दोद्गार है। वह सो रहा था—दृष्टिके आगे अँधेरा ही अँधेरा छाया हुआ था; ऐसे समय एक छोटी-सी तरंगकी तरह—स्वप्नकी सुन्दरता और चंचलताकी तरह उसके हृदयमें हँसीकी एक बहुत छोटी लहर उठती है—अपने कंपनके साथ—अपनी मृदु चंचलताके साथ—उसे भी चंचल कर देती है—उसे भी कंपा देती है। यहाँ कविके दार्शनिक ज्ञानका भी आभास मिलता है और कवितामें युक्तिकी पुष्टि! कविके हृदयमें जब चक्राकार हँसीकी हिलोर उठती है तब उसके साथ केवल वही नहीं किन्तु सम्पूर्ण विश्व-छवि उसे डोलती हुई और हँसती हुई नजर आती है। उसकी हँसीके मृदु कंपनके साथ अन्धकार हँसता है, पानीकी हिलोरें हँसती है, तारोंकी छायामें हँसीका कम्पन भर जाता है, स्वप्नकी प्रणय-प्रतिभा हृदयके नृत्यके साथ-साथ हँसती है। दार्शनिक कहते हैं, जैसा भाव हृदयमें होता है, बाहर भी उसी भावकी छाया देख पड़ती है। जब दुःख होता है तब जान पड़ता है, सम्पूर्ण प्रकृति खूनके आँसू बहा रही है और जब हृदयमें आनन्दका नृत्य होता है तब प्रकृतिके पल्लव-पल्लवमें उसे आनन्दका नृत्य देख पड़ता है। इस तरह दार्शनिक

भीतरकी प्रकृति और बाहरकी प्रकृतिमें कोई भेद नहीं बतलाते। यहाँ महाकवि रवीन्द्रनाथकी जागृतिके साथ ही जिस हँसीकी छाया आकर उनके प्राणोंको खिला जाती है, उसके साथ हम देखते हैं, विश्वभरकी प्रकृति कविके इस आनन्द-स्वरमें अपना स्वर मिलाकर उनकी मनोनुकूल रागिनी गाने लगती है। इस हँसीके चरित्र चित्रणमें आपने कमाल किया है। अन्धकारको हँसाकर। जो अंधकार पहले छातीका डाह हो रहा था, वह कविकी इस हँसीका मुँह देख-देख हँसना सीख रहा है। "तारि मुख देखे-देखे, आँधार हासिते सेखे" (इसका मुख देख-देखकर अंधकार हँसना सीखता है। यहाँ, हँसना सीखता है, इस वाक्यमें साहित्यके साथ मनोविज्ञानकी पूरी छटा है। अंधकार स्वभावतः गम्भीर है। उसके लिये हँसना अपनी प्रकृतिका अपमान करना है। और पहले कविने उसकी क्रूरताका ही दिग्दर्शन कराया है; यही नहीं किन्तु उसे बड़ा ही निठुर और ममतारहित—स्वार्थपर बतलाया है। ऐसी दशामें, यदि कवि अपनी सम्पूर्ण भीतरी और बाहरी प्रकृतिके साथ उसे भी हँसाते तो मजा कुछ किरकिरा हो जाता। दूसरे कवि उसे हँसाना चाहते तो एकाएक हँसा दे सकते थे, परन्तु रवीन्द्रनाथ जैसे कुशल चित्रकार ऐसी भूल कब कर सकते थे? उन्होंने उसे हँसाया नहीं किन्तु वे अपनी हास्यमयी प्रकृतिसे उसे मुग्ध करके हँसाना सिखा रहे हैं। उनकी हँसीकी हिलोरमें अन्धकारका भी हृदय विछल जाता है, वह भी हँसना चाहता है, परन्तु पहले कभी न हँसनेके कारण वह हँस नहीं सकता—वह हास्यमयी प्रकृतिका मुँह देखना चाहता है कि हँसे पर हँस नहीं सकता, अतएव हँसना सीख रहा है। यहाँ एक बात और ध्यान देने लायक है। पहले अन्धकारकी निर्दयता दिखलायी जा चुकी है, विदेशियोंकी क्रूर प्रकृतिके साथ भी उसकी तुलना की गई है। परन्तु अब रवीन्द्रनाथ अपनी हास्यमयी प्रकृतिकी छटा दिखाकर उसे अपनी ओर इस तरह खींच लेते हैं कि उसे भी हँसनेकी इच्छा होती है—परन्तु क्रूर एकाएक हँस नहीं सकता——उधर हँसीका जमा हुआ रंग भी उसपर इस तरह पड़ जाता है कि वह अपने स्वभावको वहाँ भूल जाता है और निर्दयताकी अपेक्षा हास्यको ही ज्यादा पसन्द करता है, इसीलिये हँसना सीखता है। इससे सिद्ध है कि अपनी निर्भय और स्वाभा-

विक प्रसन्नताके द्वारा क्रूरोंके मनपर भी विजय प्राप्त की जा सकती है । देशकी ओर रवीन्द्रनाथका यह भी एक बहुत वड़ा इशारा है और यौक्तिक तथा दार्शनिक । तत्वकी एक बात और कविने इन पंक्तियोंमें कह डाली है, पहले जीवनमें अन्धकार था । जीवनका अन्धकार मोह-मय था अतएव निश्चेष्ट था, उसमें कोई भी क्रियाशीलता न थी, वह जड़ था । जब विद्याकी ज्योति हृदयमें पहुँची, जागृतिका युग आया, तव हृदयके मधुर स्पन्दनके साथ विश्व-संसारमें कम्पन भर गया,--तब हृदयके साथ सारी प्रकृति नृत्यमयी हो गई--स्वप्नमें नर्तन, हृदयमें नर्तन, प्रणयकी प्रतिमामें नर्तन, सुखकी निर्भरतामें नर्तन, मोहिनी प्रतिमामें नर्तन, स्मृति और अधमुदी विस्मृतिमें नर्तन, तारोंमें नर्तन, जलकी लहरियोंमें नर्तन और सोते समयके झूलेमें नर्तन होने लगा--सबमें जीवनकी स्फूर्ति आ गयी--पहलेकी--वह जड़ता दूर हो गयी ।

अभी यह नर्तन बहुत ही मृदुल है, अभी यह कोमल कुमारका नर्तन है, अभी इसमें यौवनका उद्दाम ताण्डव नहीं आया ? अभी इस प्रथम जागरणके नर्तनमें केवल सौन्दर्य है, कर्म नहीं, सुख है किन्तु तृष्णा नहीं, प्रेम है किन्तु लालसा नहीं, कल्पना है किन्तु कला नहीं, जोवन है किन्तु संगठन नहीं । जब वह समय आता है, तव कविकी लालसा संसारके एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक फैल जाती है, जब हृदय अपने ही आधारमें रहकर सन्तुष्ट नहीं रहता—वह न जाने कहाँ,–उस किस विशालताको समेट लेना चाहता है, जब प्रतिभा सुन्दरी यौवनके सुचारु दर्पणमें अपना प्रतिविम्व देखकर कुछ गर्व करना, कुछ मान करना, कुछ अधिक प्रेम करना, कुछ वियोग करना, कुछ रूपका अभिमान करना सीखनेके लिये लालायित होती है, तब महाकविके हृदयोद्गार इन स्वरूपोंमें वदल जाते हैं :—

"जागिया उठेछे प्राण,
(ओरे) उथली उठेछे वारी,
ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारी ।

थर थर करि काँपिछे भूधर
शिला राशि राशि पड़िछे खसे,
फुलिया फुलिया फेनिल सलिल
गरजि उठिछे दारुण रोषे
हेथाय होथाय पागलेर प्राय
घुरिया घुरिया मातिया बेड़ाय,
बाहिरिते चाय, देखिते ना पाय
कोथाय कारार द्वार।
प्रभाते रे जेनो लइते काड़िया,
आकाशेरे जेनो फेलिते छिड़िया
उठे शून्य पाने पड़े आछाड़िया
करे शेषे हाहाकार।
प्राणेर उल्लासे छुटिते चाय,
भूधरेर हिया टुटिते चाय,
आलिगन तरे ऊद्ध्वे बाहु तुलि
आकाशेर पाने उठिते चाय।
प्रभात किरणे पागल होइया
जगत माझारे लुटिते चाय।
केन रे विधाता पाषाण हेनो,
चारिदिके तार बांधन केनो ?
भांगरे हृदय भांगरे बाधन,
साधरे आजिके प्राणेर साधन,
लहरीर परे लहरी तुलिया
आघातेर परे आघात कर;
मातिया जखन उठेछे पराण,
किसेर आंधार किसेर पाषाण,
उथलि जखन उठेछे वासना
जगते तखन किसेर डर।"

(मेरे प्राण जग पड़े हैं, मेरे हृदयकी सलिल-राशि उमड़ रही है, मैं अपने हृदयकी वासनाओंको—अपने प्राणोंके आवेगको रोक नहीं सकता। भूधर थर-थर काँप रहा है, शिलाओंकी राशि उससे छूटकर गिर रही है। फेनिल सलिल फूल-फूल कर बड़े ही रोषसे गरज रहा है। पागलकी तरह वह जहाँ-तहाँ मतवाला हो कर घूम रहा है। वह निकलना चाहता है। परन्तु कारागारका द्वार उसे देख नहीं पड़ता, मानो वह प्रभात को छीन लेनेके लिये, आकाशको फाड़ डालनेके लिये, शून्यकी ओर बढ़ता है, परन्तु अन्तको रास्तेमें ही गिर कर हाहाकार करता है। प्राणोंके उल्लाससे वह दौड़कर बढ़ना चाहता है, जिसे देखकर पहाड़का हृदय भी टुकड़ा-टुकड़ा हुआ चाहता है, वह आलिंगनके लिये ऊर्द्ध्व पथकी ओर अपनी बाहें बढ़ाकर आकाशकी ओर चढ़ जाना चाहता है। वह प्रभातकी किरणोंमें पागल होकर संसारमें लौटना चाहता है। विधाता! इस तरहका पत्थर क्यों है? उसके चारों ओर इस तरहके बन्धन क्यों हैं? हृदय! तोड़ इन बन्धनोंको। अपने हृदयकी साधना पूरी कर ले, लहरियों पर लहरियाँ उठा कर आघातपर आघात कर, जब प्राण मस्त हो रहे हैं तब अन्धेरा कैसा और कैसा पत्थर? जब वासना उमड़ चली है तब संसारमें फिर किस बातका भय?

यह प्रतिभा-विकासकी यौवन छटा है। आगे चलकर अपनी वासनाओंकी पूर्तिके लिये महाकवि लिखते हैं:—

"आमि—ढालिब करुणा-धारा
आमि—भांगिब पाषाण-कारा,
आमि—जगत् प्लाविया बेड़ाब गाहिया
आकुल पागल पारा।
केश एलाइया, फूल कुड़ाइया,
रामधनु आंका पाखा उड़ाइया,
रविर किरणे हासी छड़ाइया
दिबरे पराण ढाली।

शिखर होइते शिखरे घुरिब,
भूधर होइते भूधरे लुटिब,
हेसे खल खल, गेये कल कल
ताले ताले दिव ताली।
तटिनी होइया जाइब बहिया--
जाइब बहिया--जाइब बहिया—
हृदयेर कथा कहिया कहिया
गाहिया गाहिया गान,
जतो देव प्राण बहे जाबे प्राण,
फुराबे ना आर प्राण।
एतो कथा आछे, एतो गान आछे
एतो प्राण आछे मोर
एतो सुख आछे एतो साध आछे,
प्राण होये आछे भोर।"

(मैं करुणा की धारा वहाऊँगा, मैं पाषाण का कारागार तोड़ डालूँगा, मैं संसारको प्लावित करके व्याकुल पागलकी तरह गाता हुआ घूमता फिरूँगा। मैं अपने बाल खोलकर फूल चुनकर, अपने इन्द्रधनुषके पंख फैलाकर सूर्यकी किरणोंमें अपनी हँसी मिलाकर सबमें जान डालूँगा। मैं एक शिखरसे दूसरे शिखरपर दौड़ूँगा, एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर लोटूँगा, खिलखिलाकर हँसूँगा, कल-कल स्वरोंमें गाऊँगा और ताल-तालपर तालियाँ बजाऊँगा। मैं नदी बनकर हृदयकी बात कहता हुआ--गाने गाता हुआ बह जाऊँगा, जितना ही मैं जान डालता रहूँगा, उतना ही मेरे प्राण वहेंगे, फिर मेरे प्राणोंका शेष न होगा। मेरी इतनी वातें हैं, इतने मेरे ज्ञान हैं, इतना जीवन और इतनी आकांक्षाएँ हैं कि मेरे प्राण उनसे मस्त हो रहे हैं।)

जिस समय हृदयके अन्तस्तलको आलोक-पुलकित प्रतिभाका अमर वर मिल रहा था—जिस समय पार्थिव और स्वर्गीय रश्मियाँ एक साथ मिल रही थीं—जिस समय सलिल-राशि अपने प्रवाहके लिये स्वयं ही अपना रास्ता

वना रही थी—जिस समय कलीके भीतरकी अवरुद्ध गन्ध अपने विकासके लिये—प्रकृतिके सौन्दर्यके साथ अपना सौन्दर्य मिलानेके लिये—अपनी सुन्दरताका बिम्ब दूसरोंकी प्रसन्नतामें देखनेके लिये, मचल-मचलकर कलीके कोमल दलोंमें धक्का मार रही थी, महाकवि रवीन्द्रनाथकी ये उसी समयकी युक्तियां हैं। कलीकी सुगन्धकी तरह महाकविकी प्रतिभा भी अपनी छोटी-सी सीमाके भीतर सन्तुष्ट नहीं रहना चाहती। वह हर एक मानवीय दुर्बलताको परास्त करना चाहती है। यह उसका स्वाभाविक धर्म भी है। क्योंकि देवी-शक्ति वही है जो मानवीय बन्धनों का उच्छेद कर देती है। जो बन्धन मनुष्यको कर्मशः दुर्बल करते जाते हैं, उन्हें खोलकर मनुष्यको मुक्त कर देनेकी शक्ति दैवी-शक्तिमें ही है। कभी-कभी आसुरी उछृङ्खलता भी मानवीय पाशोंका कृतान करती है, और अधिकांश समयमें, दैवी-शक्तिके बदले आसुरी-शक्तिको ही मानवीय शृंखलाओंके नाशके लिये जन-समाजमें उछृङ्खलताका बीजारोपण करते हुए हमलोग देखते हैं। प्रायः हमलोग उसकी क्षणिक उत्तेजनाके वशमें आकर उसके विषमय भविष्य-थलकी ओर ध्यान देना उस समय भूल जाते हैं। इससे जन-समुदाय एक कदम पीछे ही हट जाता है, यद्यपि पहले उसे आसुरी उत्तेजना के द्वारा बढ़नेका एक लालच-ऐसा होता है। परन्तु रवीन्द्रनाथकी यह उत्तेजना आसुरी उत्तेजना नहीं, उनकी यह ललकार जन-समुदायमें किसी प्रकारकी आसुरी भावना नहीं लाती। उनके शब्द सोते हुओंको जगाते हैं, उन्हें अपनाकर—अपने स्वरूपमें उन्हें भी मिलाकर—अपने भाव उनमें भी भरकर, अपनी ही तरह उन्हें भी उठाकर खड़ा कर देता है और उन्हें सुनाता है एक वह मंत्र जो जागरणके प्रथम प्रभातमें हर एक पक्षी संसारको सुनाया करता है, जिसमें उसका अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं है—है केवल अपने आनन्दके स्वरसे दूसरोंको सुख देनेकी एक लालसा—स्वार्थपर होनेपर भी, निःस्वार्थ। रवीन्द्रनाथ अपने भावकी निःस्वार्थ प्रेरणासे संसारको पुकार कर जागरणका संगीत सुन रहे हैं। यदि कुछ और तह तक पहुँचकर कविकी इस पुकारकी छान-बीन की जाय तो हम देखेंगे, यह कविकी नहीं, किन्तु उसी प्रतिभाकी पुकार है, उसी दैवी-शक्तिकी अभ्युत्थान-ध्वनि है, जिसके आविर्भावसे

कविका हृदय उद्भासित हो उठा था। इस ध्वनिसे जन-समुदायका कोई अनर्थ नहीं हो सकता। इसमें भी उत्तेजना है, किन्तु क्षणिक नहीं। यह निर्जीवोंको जिला देनेके लिये, पद-दलितोंमें उत्साहकी आग भड़कानेके लिये, नग्न हृदयोंको आशाकी सुनहरी छटा दिखानेके लिये, सदा ही ज्योंकी त्यों बनी रहेगी। यह अपने आनन्दकी ध्वनि है, किन्तु इसमें दूसरे भी अपना प्रतिविम्ब देख लेते हैं। यह व्यक्ति और देशके लिये तो ससीम है किन्तु विश्वके लिये निस्सीम। एकदेशिक भावोंका मनुष्य इसमें एकदेशिक भावकी सुरीली किन्तु ओजस्विनी रागिनी पाता है और वह उसीके भावोंमें मस्त हो जाता है, और व्यापक विश्व-भावोंका मनुष्य इसमें व्यक्तिकी वह असीमता देखता है जिसकी समाप्ति, जीवनकी तो बात ही क्या, युग और युगान्तर भी नहीं कर सकते। ससीम और असीम, एकदेशिक और व्यापक, ये दोनों ही भाव महाकविकी इस उक्तिमें पाये जाते हैं। इससे देशका भी कल्याण होता है और विश्वका भी। यही इसकी विचित्रता है और यही इसका सौन्दर्य—अनूठापन। इन पंक्तियोंके पाठसे पहले इसके क्रान्तिमूलक अतएव आसुरी होनेका भ्रम हो जाता है; क्योंकि, 'लहरीर पर लहरी तुलिया, आघातेर पर आघात कर' आदि पंक्तियोंमें शक्तिको मात्रा इतनी है कि स्वभावतः इनके क्रान्तिभावमयी होनेका विश्वास हो जाता है। परन्तु नहीं, कविताके पाठसे जिस स्नायविक उत्तेजनाके कारण ऐसा होता है, वह उत्तेजना पढ़नेवाले ही की दुर्बलता है, वह कविताका क्रांतिकारी आसुरी भाव नहीं। हमारा मतलब क्रान्तिसे यहाँ आसुरी भावको लेकर है। यदि इस क्रान्तिको कोई दैवी-क्रांति कहे और इसका उपयोग मानवीय दुर्बलताके विरोधमें करनेके लिये तैयार हो, तो हम इसके मान लेनेमें द्विसक्ति भी नहीं करेंगे। हम स्वयं यह मानते हैं कि किस कविताका प्रणयन दैवी-शक्तिके द्वारा हुआ है, उसका उपयोग मानवीय दुर्बलताओंके विरोधमें स्वच्छन्दतापूर्वक किया जा सकता है, और उससे दैवी भावनाओंको ही प्रोत्साहन मिलता है, न कि किसी आसुरी भावना को।

कविको जब अपनी महत्ताका अनुभव होता है तब वह इस प्रकार अपनी व्याप्तिका वर्णन करता है—

"रवि-राशि भाँति गाथिबो हार,
आकाश आँकिया परिबो बास।
साँझेर आकाशे करे गालागालि,
अलस कनक जलद राश।
अभिभूत होये कनक-किरणे;
राखिते पारे ना देहेर भार।
येनोरे विवशा होयेछे गोधुलि,
पूरबे आंधार वेणी पड़े खुली।
पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया,
सोनार आंचल तार।
मने हबे येन सोना मेघ-गुलि
खसिया पड़ेछे आमारि जले
सुदूरे आमारि चरण-तले।
आकुली-विकुली शत बाहुतुलि
यतो इ ताहारे धरिते जाबो
किछुतेई तारे काछे न पाबो।
आकाशेर तारा आबाक हबे
साराटी रजनी चाहिया रबे
जलेर तारार पाने।
ना पाबे भाविया एलो कोथा होते,
निजेर छायारे जाबे चूम खेते
हेरिबे स्नेहेर प्राणे।
श्यामल आमार दुइटी फूल,
माझे माझे ताहे फुटिबे फूल।
खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिते चुमिया पलाये जाबे,
शरत-विमला कुसुम रमणी
फिराबे आनन शिहरि अमनी

आवेशेते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जाव ।
भेसे गिये शेषे कांदिबे हाय
किनारा कोथाय पाब !

(मैं सूर्य और चन्द्रको गूँथकर हार पहनूँगा, आकाशको अंकित करके उसका वस्त्र पहनूँगा। देखो जरा उधर भी, सुनहरे बादलोंके अलस दल सूर्यकी कनक-किरणोंको चूमकर इस तरह शिथिल हो गये हैं कि वे अपने ही शरीरका भार नहीं सँभाल सकते हैं। और उधर, मानो गोधूलि भी विवश हो रही है, क्योंकि देखो न, पूरबकी ओर उसकी खुली हुई वेणीका अन्धेरा छा गया है और पश्चिम ओर उसका सुनहरा आँचल खुल-खुलकर गिरा जा रहा है। कभी मुझे ऐसा मालूम होगा कि सुनहरे मेघ मेरी ही सलिल-राशि-पर टूट-टूटकर गिर रहे हैं—दूर मेरे ही पैरोंके नीचे। मैं व्याकुल होकर अपने शत-शत बाहुओंको फैलाकर जितना ही उन्हें पकड़नेके लिय जाऊँगा, वे मेरी पकड़में न आवेंगे। यह देखकर आकाशके तारोंको आश्चर्य होगा। वे रातभर पानीके भीतरके तारोंकी ओर हेरते रहेंगे। वे यह न समझ सकेंगे कि ये पानीके तारे कहाँसे आये, वे अपनी छायाको चूमने चलेंगे, पर मैं स्नेहकी दृष्टिसे देखता रहूँगा। मेरे दोनों तट कैसे श्याम हो रहे हैं!— इनमें कहीं कहीं फूल खिल जायेंगे। लहरियाँ इन फूलोंके पास खेलनेके लिये आवेंगी और एक-एक इन्हें चूमकर भाग जायँगी। तब मारे शर्मके कुसुम-कुमारी सिहर उठेगी,—उसी समय अपना मुँह फेर लेगी—अन्तमें लज्जाके आवेशमें अवश होकर झड़ जायगी। हाय! बहती हुई वह जलमें रोती फिरेगी, फिर उसे किनारा कहाँ मिलेगा ?)

यह कविकी कविता-माधुरी है। इस कल्पनामें वह ओज नहीं जो उनकी पहलेकी पंक्तियोंमें है। अन्धकार दूर हुआ, हृदयके अन्तर्पट पर प्रतिभाकी किरण गिरी, फिर क्रमशः उसकी प्रखरता इस तरह बढ़ती गई कि विश्वभरका उसने ग्रास कर लिया—उसके उद्दाम—वेग—प्रखर गतिमें विश्वका हृदय-स्पन्द द्रततर होता गया, फिर उसमें लालसाकी सृष्टि हुई, लालसाकी ही

उत्पत्ति कविके हृदयमे नई-नई सृष्टियोंके बीज बोती है। क्योंकि, किसी भी सृष्टिके पहले हम लालसा या इच्छाको ही पाते हैं। यदि लालसा न हो, यदि इच्छा न हो तो सृष्टि भी नहीं हो सकती। यह बात शास्त्रीय है। इधर कवितामें भी हमें यही क्रम मिलता है। प्रतिभा उर्वरा भूमि है और लालसा है बीज। इस बीजके पड़ने पर जो अंकुर उगता है, पूर्वोद्धृत पद्यमें उसका रूप हम देख लेते हैं, वह अंकुरकी ही तरह कोमल है और सुन्दर तथा मृदुल। और लालसाकी प्रथम सृष्टिमें जो रूप हमें देखनेको मिलता है, वह आदि रसका ही रूप है और सृष्टिकी सार्थकताको 'आदि' के द्वारा बड़ी ही खूबीसे सिद्ध करता है। कविकी लहरियाँ अपने तटपरके खिले हुए फूलोंको चूमकर भाग जाती हैं और उनका यह अभिसार—यह प्यार, नारी-स्वभावकी परिधिमें रहनेके कारण कुसुम-कामिनीसे नहीं देखा जाता—वे लज्जासे सिहर उठती है और फिर चिरकालके लिये, अपने प्यारे वृत्तका आश्रय छोड़ जाती है—अन्तमें सलिल-राशि पर निरुपाय बह जाती है—उसे कहीं किनारा नहीं मिलता। इस सृष्टिमें महाकवि रवीन्द्रनाथने आदि या शृंगारकी सृष्टि किस खूबीसे करके, कुसुम-कामिनीके निरुपाय बह जानेमें इसका वियोगान्त अन्त करते हैं। यह बातें कविता-शिल्पियोंके लिये ध्यान देने योग्य हैं। महाकविकी इस क्षुद्र सृष्टिमें अनन्त शृंगार है और उसका अवसान भी होता है अनन्त वियोगमें। कुसुम कामिनीके उद्धारके लिए फिर तट नहीं मिलता, उसे किनारा नहीं मिलता। उसका सच्चा प्रेम नायिका-लहरियोंके एक क्षणिक चुम्बनसे ही मुरझा जाता है और साथ ही वह भी मुरझाकर झड़ जाती है और वहाँ वह जाती है जहाँसे फिर तट पर लगनेकी कोई आशा नहीं। कितनी सुन्दर सृष्टि है, छोटी और सुसम्बन्ध—महान्!

रवीन्द्रनाथ अपने सौन्दर्यका अनुभव दूसरोंको भी कराते हैं। वे उन्हें पुकार-पुकार कर कहते हैं—

> आजिके प्रभाते भ्रमरेर मत
> बाहिर होइया आय,
> एमन प्रभाते एमन कुसुम

केनोरें सुकाये जाय।
बाहिरे आसिया ऊपरे बसिया
केवलि गाहिबि गान,
तबेसे कुसुम कहिबे रे कथा
तबेसे खुलिबे प्राण।
अति धीरे धीरे फुटिबे दल,
बिकसित होये उठिबे हास,
अति धीरे धीरे उठिबे आकाशे
लघु पाखा मेली खेलिबे वातासे
हृदय खुलानो, आपना भुलानो,
पराणमातानो वास।
पागल होइया माताल होइया
केवलि धरिबि रहिया रहिया
गुन् गुन् गुन् तान।
प्रभाते गाहिबि, प्रदोषे गाहिबि,
निशिथे गाहिबि गान,
देखिया फुलेर नगन माधुरी,
काछे काछे शुधु वेड़ाबि घुरि,
दिवा निशि शुधु गाहिबि गान।
थर थर करि कांपिबे पाखा
कोमल कुसुमे रेणुते माखा,
आबेगेर भरे दुलिया-दुलिया
थर-थर करि कांपिबे प्राण।
केवलि उड़िबि केवल बसिबि
कभुवा मरम माझारे पशिबि,
आकुल नयने केवलि चाहिबि
केवलि गाहिबि गान।

अमृत-स्वप्न देखिबि केवल
करिबिरे मधुपान !
आकाशे हासिबे तरुण तपन,
कानने छुटिबे बाय,
चारि दिके तोर प्राणेर लहरी
उथलि-उथलि जाय।
वायुर हिल्लोले झरिबे पल्लव
मर मर मृदु तान,
चारि दिक होते किसेर उल्लासे
पाखीते गाहिबे गान !
नदीते उठिबे शत शत ढेऊ,
गावे तारा कल-कल,
आकाशे आकाशे उथलिबे शुधु
हरषेर कोलाहल।
कोथाओ बा हासी, कोथाओ बा खेला,
कोथाओ बा सुख गान,
माझे बोसे तुइ बिभोर होइया,
आकुल पराणे नयन मुदिया
अचेतन सुखे चेतना हाराये
करिबिरे मधुपान।"

(आज इस प्रभातमें भ्रमरकी तरह तू भी निकलकर यहाँ आ जा। इस तरहके प्रभातमें, इस तरहके कुसुम भला क्यों सूख जाते हैं ? तू बाहर निकल आ, यहाँ ऊपर बैठकर बस गाते रहना, उस कुसुमसे तेरी बातचीत तभी होगी—तभी वह तेरे सामने अपने प्राणोंके दल खोलेगा। बहुत धीरे-धीरे उसके दल खुलेंगे, तब उसकी हँसी भी विकसित हो जायगी, तब हृदयको खोल देनेवाली—अपनेको भुला देनेवाली—प्राणोंको मस्त कर देनेवाली सुगन्ध बहुत ही धीरे-धीरे आकाशकी ओर चढ़ेगी—अपने छोटे-छोटे पंख फैलाकर हवाके

साथ खेलती फिरेगी। पागल होकर, रह रहकर तू केवल गुन्-गुन् स्वरोंमें तान अलापेगा। तू प्रभातके समय गायेगा, प्रदोषके समय गायेगा, निशीथके समय गायेगा। फूलोंकी नग्न माधुरी देखकर तू उनके आस ही पास चक्कर मारता रहेगा और दिन-रात केवल तान छेड़ता रहेगा। कोमल फूलोंकी रेणु लिपटाये हुए तेरे पंख थर-थर काँपते रहेंगे। इसके साथ आवेगकी निर्भयता-पर झूम झूम कर तेरे प्राण भी थर-थर काँपते रहेंगे। उड़ता रहेगा, फूलोंपर बैठता फिरेगा, कभी मर्ममें पैठकर व्याकुल दृष्टिसे हेरता रहेगा और अपनी तान छेड़ेगा। अमृतके स्वप्नों पर तेरी दृष्टि अटकी रहेगी। तू केवल सदा मधुपान ही करता रहेगा। जब तक आकाशमें तरुण सूर्यका उदय होगा— वनोंमें वायु प्रवाहित हो चलेगी तब मुझे ऐसा मालूम होगा कि तेरे चारों ओर जीवनकी लहरें उथल-पुथल मचाती हुई बही चली जा रही हैं। जब हवाकी हिलोरोंमें पल्लव मर्मर-स्वरसे मृदु तान अलापने लगेंगे और न जाने किस उच्छ्वासके आवेशमें पक्षी गाने लगेंगे—नदियोंमें कितनी ही लहरें उठेंगी और कल-कल स्वरसे अपनी रागिनी गायेंगी—एक आकाशसे दूसरे आकाशमें केवल हर्षका कोलाहल उमड़ता रहेगा—कहीं हास्यकी रेखाएँ खिचेंगी—कहीं क्रीड़ा-कौतुक होगा—कहीं सुखके सङ्गीत उठेंगे—तू उनके बीचमें विह्वल होकर बैठा हुआ अपने आकुल प्राणोंसे, आँखें मूँदकर, उस अचेतन सुखमें अपनी चेतना खोकर सबका मधु पीता रहेगा।)

अपने हृदयके साथ दृश्य मिलानेके लिये महाकवि सम्पूर्ण विश्वको इन पंक्तियों द्वारा निमन्त्रण भेज रहे हैं। वे मधुकरके साथ उसकी उपमा देकर मधुकरकी तरह उसे भी सम्पूर्ण पुष्प प्रकृतिका आनन्द लूटनके लिये बुला रहे हैं। यह हृदय कितना विस्तीर्ण हो गया है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। हृदयका विस्तार सम्पूर्ण विश्व-प्रकृति तक फैल जाता है। यह इतना बड़ा विस्तार है कि इसका वर्णन महाकविके ही मुखसे सुनिये—

"बारेक चेये देखो आमार मुख पाने,
उठेछे माथा मोर मेघेर माझ खाने।
आपनि आसि ऊषा शियरे बसि धीरे,

अरुण कर दिये मुकुट देन शिरे।
निजेर गला होते किरण-माला खुलि,
दितेछे रवि-देव आमार गले तुलि।
धुलिर धलि आमि रयेछि धूलि परे
जेनेछि भाई बोले जगत चराचरे।"

(जरा मेरे मुँहकी ओर भी देखो। देखो—मेरा मस्तक मेघोंके बीचमें जाकर लगा है। वहाँ ऊषा आप आकर धीरे-धीरे मेरे सिरहानेपर बैठकर अरुण करोंका मुकुट मेरे सिरपर रख रही है। अपने गलेसे किरणोंकी माला खोलकर भगवान भास्कर उसे मेरे गलेमें डाल रहे हैं। यों तो मैं धूलकी धूल हूँ—धूल ही पर रहता भी हूँ, परन्तु विश्व और चराचरके दर्शन मुझे अपने भाईके रूपमें हुए हैं।)

इन पंक्तियोंमें कविके स्वरूपका पूर्ण परिचय मिल जाता है। उसका विशाल हृदय अपनी पहली क्षुद्र सीमाको तोड़कर किस तरह विश्व-ब्रह्माण्डकी व्याप्तिसे मिलकर एक हो जाता है, इसका इन इतनी ही पंक्तियोंमें यथेष्ट उदाहरण है। उसका उन्नत ललाट मेघोंको स्पर्श कर लेता—उनके भी ऊँचा यदि कोई स्थान है तो वहाँ भी उसकी गति कोई बाधा नहीं पहुँचाती। इधर धूलिकी धूलि होकर वह छोटेसे भी छोटा बन जाता है। महान् भी है और क्षुद्र भी है। यदि विशालताकी पराकाष्ठा तक पहुँचानेके लिये कविने क्षुद्रताको छोड़ दिया होता तो उसके यथार्थ हृदयोद्‌गारको समालोचक व्यर्थकी आत्म-प्रशंसा और अहंकार कहकर कलंकित भी कर सकते थे, क्योंकि क्षुद्र विशालता एक अंग ही तो है। रेणुसे अलग कर देने पर विश्व-ब्रह्माण्डका अस्तित्व स्वीकार करना हास्यास्पद नहीं तो और क्या होगा? अस्तु कविकी व्याप्ति विराटमें भी है और स्वराटमें भी। यह प्रतिभादेवीके कृपा-कटाक्षका ही फल है कि पहले जिस हृदयमें अन्धकारका साम्राज्य था आज वह विश्वके महान आकाश और क्षुद्र कण तकमें व्याप्त होकर उन्हें प्रभा-पुलकित देख रहा है। आज उच्च और नीच, विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंमें उसका अपना ही

दर्पण लगा हुआ है जिनमें वह अपने ही स्वरूपके दर्शन कर रहा है। न वह महानको देखकर डरता है और न क्षुद्रको देखकर उससे घृणा करता है। वह महान्‌में भी है और क्षुद्रमें भी।

स्वदेश-प्रेम

कवियोंका हृदय स्वभावत: बड़ा कोमल होता है। वे दूसरोंके साथ सहानुभूति करते-करते इतने कोमल हो जाते हैं कि किसी भी चित्रकी छाया उनके हृदयमें ज्योंकी त्यों पड़ जाती है, उन्हें इसके लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यह उनका स्वाभाविक धर्म ही बन जाता है। सांसारिक व्यवहारम जितने प्रकारके विकारोंकी सृष्टि हो सकती है उनकी संख्या ९ से अभी तक अधिक नहीं हो पाई। इन्हीं ९ प्रकारके विकारोंका विश्लेषण करके साहित्यमें ९ रसोंकी सृष्टि की गई है। इन नव रसोंके नायक कवि वही होते हैं जो इस रसायनशास्त्रके पारदर्शी कहलाते हैं। नव रसोंके समझने और उन्हें उनके यथार्थ रूपमें दर्शानेकी शक्ति जिसमें जितनी ज्यादा है, वह उतना ही बड़ा कवि है। जिस समयसे देश पराधीनताके पिंजड़ेमें वन-विहंगमकी तरह बन्द कर दिया गया है, उस समयसे लेकर आजतककी उसकी अवस्थाका दर्शन, उससे सहानुभूति, उसकी अवस्थाका प्रकटीकरण आदि उसके सम्बन्धके जितने काम हैं, इनकी सीमा कवि-कर्मकी परिधिके भीतर ही समझी जाती है। क्योंकि, प्रकृतिका यथार्थ अध्ययन करनेवाला कवि ही यदि देशकी दशाका अध्ययन न करेगा तो फिर करेगा कौन?—लल्लू बजाज और मैकू महतो?

महाकवि रवीन्द्रनाथने केवल दूसरे विषयोंकी उत्तमोत्तम कविताओंकी रचनामें ही अपना सम्पूर्ण काल नहीं बिताया, उन्होंने देशके सम्बन्धमें भी बड़ी मर्म-स्पर्शनी कविताएँ लिखी हैं। उनकी इस विषयकी कविताओंमें एक खास चमत्कार यह है कि वर्त्तमान समयके कवि यश:प्रार्थी होकर ही कविता लिखनेका दुस्साहस करनेवालोंकी तरह, उनकी कवितामें कहीं हाय-हायका नाम-निशान भी नहीं रहता; किन्तु वह उनकी दूसरी कविताओंकी तरह सरस, मर्मस्पर्शनी और भावमयी होती हैं; दूसरे भारतीयता क्या है और किस राह पर चलनेसे देशका भविष्य उज्वल होगा—कैसे उसे अपनी पूर्व अवस्थाकी

प्राप्ति हो सकेगी, यह महाकविने अपनी देश-विषयकी कविताओंमें बड़ी निपुणताके साथ अंकित कर दिखाया है। आदर्श उनका वही है जो आर्य-महर्षियोंका था और पथ-प्रदर्शन भी वही जो वेद और शास्त्रोंका है। कवित्वका कवित्व, उपदेशका उपदेश और भारतीयता की भारतीयता।

"नयन मुदिया सुनि गो, जानिना,
कोन अनागत वरषे
तव मंगल-शंख तुलिया
बाजाय भारत हरषे!
डुबाये धरार रण-हुँकार
भेदि बणिकेर धन-झंकार
महाकाश-तले उठे ओंकार
कोनो बाधा नाहीं मानी!
भारतेर श्वेत-हृदि-शतदले
दाँड़ाये भारती तव पदतले
संगीत ताने शून्ये उथले
अपूर्व महावाणी
नयन मूंदिया भावीकाल पाने
चाहिनु, सुनिनु निमिषे
तव मंगल-विजय-शङ्ख
बाजिछे आमार स्वदेशे!"

(आँखें बन्द करके मैंने सुना, हे विश्वदेव, न जाने किस अनागत वर्षमें, तुम्हारा मंगल-शंख लेकर भारत आनन्दपूर्वक बजा रहा है। संसारके संग्राम-हुंकारको प्लावित करके, बणिकोंके धन-झंकारको भेदकर भारतके ओंकारकी ध्वनि महाकाशकी ओर बढ़ रही है, वह कोई बाधा नहीं मानती। भारतके हृदय-श्वेत-शतदलपर, तुम्हारे पैरोंके नीचे भारती खड़ी है; उसके संगीतके शून्य-पथमें एक अपूर्व महाबाणी उमड़ रही है। मैंने आँखें मूंदकर भविष्य समयकी

ओर देखा, सुना,—मंगलघोषसे भरा हुआ हमारे देशमें तुम्हारा विजय-शंख बज रहा है !)

देशपर महाकविने जो कुछ कहा है, उसमें भारतीयताकी ही गन्ध मिल रही है। वे देशको विपथगामी होनेंसे बचा रहे हैं, वे उसके मंगलके लिये किसी ऐसे उपायकी उद्भावना नहीं करते जो भारतके लिये एक नवीन और उसकी प्रकृतिके बिल्कुल खिलाफ हो। वे उसे उसी मार्गपर उठाये रखना चाहते हैं, जिसपर रहकर उसने महामनीषी ऋषियोंको उत्पन्न किया था। वे यदि चाहते तो अपनी ओजस्विनी कविता द्वारा देशको अपने इच्छानुकूल मार्गपर, अथवा विदेशके किसी क्रांतिकारी भावपर चला सकते थे। परन्तु उन्होंने देशकी नाड़ी पकड़कर उसे वह दवा नहीं दी जो किसी विदेशीने अपने देशकी रोग-मुक्तिके लिये उसे दी है। रवीन्द्रनाथ भारतके ओंकारकी वर्णनामें उसे किस उपायसे सर्वविजयी सिद्ध करते हैं, इसपर ध्यान दीजिये। उनके ओंकार-नादसे संसारका संग्राम-हुंकार प्लावित हो जाता है। इस प्लावनमें अशान्ति नहीं, शांति है। यह बिना अस्त्रोंकी लड़ाई और सत्यकी विजय है। इस ओंकार-नादसे धनिकोंका धन-दर्प भी चूर्ण हो जाता है। इसीका मंगल-घोष महाकवि भविष्यके पथपर अग्रसर होकर सुनते हैं। इससे सूचित है, भविष्यमें रवीन्द्रनाथ इसी ओंकारके विजय शब्दको भारतीय आकाशमें गूंजते हुए सुन रहे हैं, अतएव वे भारतको उसी रूपमें देखना चाहते हैं जिस रूपमें उसे सुसज्जित करनेके लिये महर्षियोंने युगोंतक तपस्या की थी।

भारतके सम्बन्धमें रवीन्द्रनाथका यह गीत बहुत ही प्रसिद्ध है—

"आमि भूवन-मनोमोहिनी
आमि निर्मल सूर्यकरोज्वल धरणी
जनक-जननी-जननी !
नील-सिन्धुजल-धौत चरण तल,
अनिल-विकम्पित श्यामल अंचल,

अम्बर-चुम्बित भाल हिमाचल
शुभ्र-तुषार-किरिटिनी ।
प्रथम-प्रभात उदय तव गगनें,
प्रथम साम-रव तव तपोवने
प्रथम प्रचारित तब वन-भवने
ज्ञान-धर्म कत काव्य-काहिनी
चिर-कल्याणमयी तुमि धन्य,
देश-विदेशे वितरिछ अन्न,
जाह्नवी यमुना विगलित-करुणा,
पुण्य पीयूष-स्तन्य वाहिनी !"

इसका अर्थ खुलासा है। पाठकोंको इसके समझनेमें कोई दिक्कत न होगी।

रवीन्द्रनाथ देशकी कल्याण-कामना करते हुए परमात्मासे जिन शब्दोंमें प्रार्थना करते हैं उससे उनके हृदय की छिपी हुई मर्म-पीड़ाके साथ उनके प्रांजल विश्वासका एक बहुत ही भावमय चित्र पाठकोंके सामने अंकित हो जाता है। देशकी दीनताका अनुभव कितने गहरे पैठकर रवीन्द्रनाथ करते हैं और उसके स्वरूपकी पहचान करा देनेके लिये अपने अक्षय शब्द-भांडार से कैसे-कैसे अर्थव्य और अजेय शब्दास्त्रोंका प्रयोग करते, यह भी पाठकोंके लिये एक ध्यान देनेकी बात है। रवीन्द्रनाथ उपदेशकके आसनपर बैठकर, यह करो—यह न करो, कहकर उसपर उपदेशोंकी बौछार नहीं करते। वे कविके ही शब्दोंमें जो कुछ कहते हैं, कहते हैं—

"अन्धकार गर्तें थाके अन्ध सरीसृप,
आपनार ललाटे रतन-प्रदीप
नाहीं जाने; नाहीं जाने सूर्यालोक-लेश !
तेमनि आँधारे आछे एई अन्ध-देश
हे दण्ड विधाता राजा, ये दीप्त रतन
पराये दियेछो भाले ताहार यतन

नाहीं जाने, नाहीं जाने तोमार आलोक !
नित्य बहे आपनार अस्तित्वेर शोक
जनमेर ग्लानि ! तव आदर्श महान
आपनार परिमापे करि खान खान
रेखेछे धूलिते ! प्रभु, हेरिते तोमाय
तुलिते ना हय माथा ऊर्द्ध्व पाने हाय !
जे एक तरणी लक्ष लोकेर निर्भर
खण्ड खण्ड करि ताहे तरिबे सागर ?"

(अन्धा साँप अन्धेरे गढ़ेमें रहता है। उसे अपने ही मस्तकके रत्न-प्रदीपका हाल नहीं मालूम। सूर्यके प्रकाशका भी उसे कोई ज्ञान नहीं। इसी तरह, हमारा यह देश भी अन्धेरेमें पड़ा हुआ है। हे दण्डविधाता ! हे महाराज ! जो दीप्त-रत्न उसके मस्तक पर तुमने लगा दिया है, उसका आदर-यत्न करना वह नहीं जानता, न उसे तुम्हारे प्रकाशका ही कोई ज्ञान है ! वह सदा अपने अस्तित्वका शोक-भार ढोया करता है,—अपने जन्मके लिये रोया करता है ! तुम्हारे महान आदर्शको अपनी बुद्धिके दायरे के अन्दर रख, उसने उसके टुकड़े बना डाले हैं और उन्हें धूलमें डाल रक्खा है। हे प्रभु ! यह सब उसने इसलिये किया है कि तुम्हें देखनेके लिये उसे कहीं ऊपरकी ओर नज़र न उठानी पड़े। कितनी बड़ी भूल है। जिस नावपर चढ़कर लाखों मनुष्य पार हो सकते हैं, वह उसके टुकड़े बनाकर समुद्रको पार करना चाहता है !)

इस अन्योक्तिसे रवीन्द्रनाथ देशको बहुत बड़ा उपदेश दे रहे हैं। परन्तु यह उपदेश वे उपदेशक बनकर नहीं दे रहे, वे कविके भावोंमें ही उसकी आँखें खोल रहे हैं ! सांप अंधेरे गढ़ेमें पड़ा है। यहाँ साँप देश है और अंधेरा गढ़ा अज्ञान। उसके मस्तक पर मणि है, अर्थात् हर एक मनुष्यके भीतर अनादि और अनन्त शक्तिका भाण्डार है—उसके भीतर साक्षात् ब्रह्म विराजमान हैं। यह बात अर्थशास्त्रकी ओरसे भी पुष्ट होती है। देशमें जितना अन्न होता है, उससे देश अपनी शक्तिको इतना बढ़ा सकता

है कि फिर संसारके सब देश यदि एक ओर होकर उससे लड़ें तो भी उसे जीत नहीं सकते। एकबार इन पंक्तियोंके लेखकसे एक अर्थशास्त्रके पारङ्गत विद्वान्से बातचीत हुई थी। उन्होंने पहले दूसरे देशोंका हाल कहा। फिर पश्चिमी देश भारतके साथ क्यों मैत्री नहीं करते, इसका अर्थशास्त्र-संगत एक कारण बतलाया और इसे अपनी सबल युक्तियों द्वारा पुष्ट भी किया। फिर उन्होंने कहा, लड़ाईमें रसदसे जितना काम होता है—लड़ाईके समय रसदकी जितनी आवश्यकता है, उतनी न गोलीकी है—न बारूदकी,—न मशीनगनोंकी है—न हवाई जहाजोंकी। भूखके मारे जब पेटमें चूहे कला-बाजियाँ खाने लगेंगे तब बन्दूकमें संगीन चढ़ाकर दिन भरमें पचास मीलका डबल-मार्च कैसे किया जायगा? सारी करामात रसदकी है। भारतमें जितना अन्न पैदा होता है उससे भारत अपनी रक्षा और दूसरोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये चार करोड़ फौज सब समय तैयार रख सकता है। पाठक, ध्यान दीजिये भारत सदाके लिये—सब समय मैदानेजङ्ग पर डटे रहनेके लिये चार करोड़ सेनाकी पीठ ठोकता है। अब उसकी शक्तिका अन्दाजा आप सहज ही लगा सकते हैं। अस्तु! इसकी पुष्टि तब और हो जाती है जब वे कहते हैं, जिस नावपर से लाखों मनुष्य पार होते हैं, उसका तख्ता-तख्ता अलग करके यह समुद्रको पार करना चाहता है। भारतके बहुमत, सम्प्रदाय विभाग, संघशक्तिके कट-छँटकर टुकड़ोंमें बट जानेपर रवीन्द्रनाथ व्यङ्ग कर रहे हैं, और इसके भीतर जो शिक्षा है, वह स्पष्ट है कि अब 'अपनी डफली और अपना राग' छोड़ो—यह 'अब' ढाई चावलोंकी खिचड़ी अलग पकानेका समय नहीं है, इससे देशकी नाव समुद्रसे पार नहीं जा सकेगी,—देशके पैरोंकी बेड़ियाँ नहीं कट सकेंगी।

आगे चलकर आप अपने अक्षय तूणीरसे बड़े-बड़े विकराल अस्त्र निकालते हैं। इनका संधान देशके उन साधुओं पर किया जाता है जो मुफ्त ही का धन हजम कर जाया करते हैं और काम जिनसे कुछ भी नहीं होता। मन्दिरके विशाल मञ्चपर कुछ मंत्र कहकर देशके उद्धारका द्वार खोलनेवाले इन बगुलाभगत साधुओंको आपकी उक्तिसे करारी चोट

पहुँचती है। इससे उनके दुराचारोंको भी कोई चोट पहुँचती है या नहीं, यह हम नहीं कह सकते हैं—

"तोमारे शतधा करि क्षुद्र करि दिया
माटीते लुटाय जारा तृप्त सुप्त हिया
समस्त धरणी आजि अवहेला भरे
पा रेखेछे ताहादेर माथार ऊपरे।
मनुष्यत्व तुच्छ करि जारा सारा बेला
तोमारे लइया सुधु करे पूजा खेला
मुग्ध भाव भोगे,—सेइ वृद्ध शिशुदल!
समस्त विश्वेइ आजि खेलार पुत्तल!
तोमारे आपन साथे करिया सम्मान
जे खर्ब वामनगण करे अपमान
के तादेर दिबे मान? निज मंत्र स्वरे
तोमारेइ प्राण दिते जारा स्पर्द्धा करे
के तादेर दिबे प्राण? तोमारेओ जारा
भाग करे, के तादेर दिबे ऐक्य धारा?

(हे ईश्वर! तुम्हारे सैकड़ों टुकड़ोंमें बँटे हुए जो लोग तुम्हारे ही छोटे-छोटे स्वरूप हैं—जो लोग मिट्टीपर लोटते हैं और उसीमें जिन्हें तृप्ति मिलती है और आनन्दसे वहीं सो जाते हैं, आज अवज्ञापूर्वक सम्पूर्ण संसार उनका सिर कुचल रहा है,—उन्हें ठोकरें लगा रहा है, जो लोग अपनी मनुष्यताको तिलाञ्जलि देकर, करते तो हैं तुम्हारी पूजा की बात, परन्तु वास्तवमें तुमसे बच्चोंका ऐसा खेल किया करते हैं,—भोग ही जिनका भाव है और उसीमें जो लोग मुग्ध रहते हैं, वे वृद्ध होते हुए भी शिशु हैं—वे आज सम्पूर्ण विश्वके खिलौने हो रहे हैं। हे ईश्वर! सर्वाकृति वामन होते हुए भी जो लोग तुम्हें अपने ही बराबर बतलाते हैं, ऐसा कौन है जो उन्हें सम्मान दे सके! अपने ही मन्त्रके उच्चारणसे जो लोग तुम्हारे लिये अपने प्राणोंको निछावर कर देनेकी स्पर्द्धा करते हैं, ऐसा कौन है जो

जीवनका संचार करे ? जो लोग तुम्हारे भी टुकड़े कर डालते हैं, कहो, उन्हें कौन एकताकी रीति बतलाये ?

पूर्वोद्धृत पंक्तियोंमें महाकविने भारतके धर्मध्वजियों और उनके विचार-की खूब धूल उड़ाई है ! आगे भारतकी वर्त्तमान परिस्थितिमें जो लोग कराह रहे हैं, उनके स्म्बन्धमें लिखते हैं—

"आमरा कोथाय आछि कोथाय सुदूरे
दीपहीन जीर्ण भीत्ति अवसाद-पुरे
भग्न गृहे; सहस्रेर भ्रूकुटिर नीचे
कुब्ज पृष्ठे नतशिरे; सहस्रेर पिछे
चलियाछि सहस्रेर तर्जनी-संकेते
कटाक्षे कांपिया; लइयाछि सिर पेते
सहस्र शासन-शास्त्र; संकुचित-काया
कांपितेछि रचि निज कल्पनार छाया
सन्ध्यार आंधारे बसि निरानन्द घरे
दीन आत्मा मरितेछे शत लक्ष उरे !
पदे पदे त्रस्त चिते हय लुण्ठ्यमान
धूलितले, तोमारे ज करि अप्रमाण !
जेनो मोरा पितृहारा धाई पथे-पथे
अनीश्वर अराजक भयार्त जगते !"

(हमलोग कहाँ हैं ?—दूर—बहुत दूर—उस नगरका नाम है विषाद—उसीके एक जीर्ण मन्दिरमें,—जिसकी दीवारें पुरानी हो गई हैं,—जहाँ एक दीप भी नहीं जल रहा !—वहीं हजारों मनुष्योंकी कुटिल भौंहों-के नीचे कुब्जेकी तरह—सिर झुकाये हुए,—हजारों मनुष्योंके पीछे-पीछे प्रभुत्वकी तर्जनीके इशारेपर उनके कटाक्षसे काँप-काँपकर हम चल रहे हैं; —हमारी देह संकुचित हो गई नहै,—हम अपनी ही गढ़ी हुई कल्पनाकी छाया देखकर काँप रहे हैं,—सन्ध्याके अंधेरेमें, निरानन्द-गृहमें बैठी हुई

हमारी दीन आत्माएँ लाखों विपत्तियोंकी शंका कर-करके जी दे रही हैं। पग-पगपर हमारा जी काँप उठता है—हम धूलमें लोटने लगते हैं—तुम्हें हम अप्रमाणित भी तो करते हैं ! बिना बापका अनाथ बच्चा जिस तरह गली-गली मारा-मारा फिरता है, उसी तरह हम भी इस अनीश्वर अराजक और भयार्त संसारमें मारे मारे फिरते हैं !

रवीन्द्रनाथकी इस उक्तिसे हमें अपनी वर्त्तमान देश-दशाका बहुत अच्छा ज्ञान हो जाता है। महाकविके चरित्र-चित्रणमें जो खूबी है—उनकी वही खूबी भावोंके व्यक्त करनेमें भी पाई जाती है। वे एक निर्लिप्त फोटोग्राफरकी तरह फोटो नहीं उतारते; उस चित्रके सुख और दुःखसे अपनी हृदय-वीणाको इस तरह मिला देते हैं कि वह चित्रको अपनी सम्पूर्ण समवेदना गाकर सुनाया करती है। यही उनके चित्रणकी स्वर्गीय ज्योति है—यही उनकी महत्ता है। देशके वर्त्तमान नग्न-ताण्डवका रूप खींचकर वे उसके सामने एक आदर्श भी रखते हैं। इस आदर्शकी रचना महाकवि स्वयं नहीं करते, वे उसे वेदान्तकी अमृतवाणी सुनाते हैं—कहते हैं—

"एकदा ए भारतेर कोन वनतले
के तुमी महान प्राण, कि आनन्द बले
उच्चारि उठिले उच्चे—"सुनो विश्वजन,
सुन अमृतेर पुत्र जतो देवगण
दिव्यधामवासी, आमि जेनेछि तांहारे,
महान पुरुष जिनी आंधारेर पारे
ज्योतिर्मय तांरे जेने, ताँर पाने चाही
मृत्युरे लंघिते पार, अन्य पथ नाही !"
आर वार ए भारते के दिबे गो आनी
से महाआनन्दमय, से उदात्त बाणी
संजीवनी, स्वर्गे मर्त्ये सेई मृत्युंजय
परम घोषणा, सेई एकान्त निर्भय

अनन्त अमृत वानी !
रे मृत भारत !
सुधु सेई एक आछे नाहि अन्य पथ !

(हे महामनीषी ! तुम कौन हो ?—एक समय भारतके किसी अरण्य की छायामें किस आनन्दके उच्छ्वासमें आकर तुमने यह उच्चारण किया था ?—"हे विश्वके मनुष्यो ! हे दिव्य धामके रहनेवाले अमृतके पुत्र देवताओ ! सुनो, उस महापुरुषको हमने जान लिया है—वे ज्योतिर्मय पुरुष अन्धकारके उस पार रहते हैं; उन्हें जानकर उनकी ओर दृष्टि करके तुम मृत्युकी सीमाको पार कर सकते हो, और दूसरा मार्ग नहीं है।" हे मर्हषि ! वह महा आनन्दमयी—जीवन-संचार करनेवाली—उदात्त वाणी, —स्वर्ग और मर्त्यके बीचमें मृत्युके जीतनेकी वह परम घोषणा, —अनन्तकी वह निर्भय अमृत वार्त्ता और कौन देगा ? अरे मृत भारत ! तेरे लिये वही एक मार्ग है, और कोई पथ नहीं है।)

प्राणोंमें बिजलीकी स्फूर्ति भर देनेवाली, मुरदोंमें भी जान डाल देनेवाली हृदयके सुप्त तारोंमें झंकारकी तीव्र कम्पन ध्वनि भर देनेवाली अपनी ओजस्विनी कवितामें, उसी विषयको लेकर महाकवि फिर कहते हैं—

"ए मृत्यु छेदिते हबे, एई भयजाल,
एई पुञ्ज-पुञ्जीभूत जड़ेर जञ्जाल,
मृत आवर्जना ! ओरे जागितेई हबे
ए दीप्त प्रभात काले, ए जाग्रत भवे,
एई कर्मधामे ! दुई नेत्र करि आँधा
ज्ञाने बाधा, कर्मे बाधा, गति पथे बाधा,
आचारे विचारे बाधा करि दिया दूर
धरिते हइबे मुक्त विहंगेर सुर
आनन्दे उदार उच्च ! समस्त तिमिर
भेद करि देखिते हइबे ऊर्द्ध्व सिर

एक पूर्ण ज्योतिर्मये अनन्त भुवने !
घोषणा करिते हबे असेशय मने--
"ओगो दिव्यधामवासी देवगण जतो
मोरा अमृतेर पुत्र तोमादेर मतो ।"

(इस मृत्युका उच्छेद करना होगा—इस भयपाशका कृतान करना होगा—यह एकत्र हुई जड़की राशि—मृत निस्सार पदार्थ दूर करना होगा। अरे—इस उज्ज्वल प्रभातके समय, इस जाग्रत संसारमें, इस कर्मभूमिमें, तुझे जागना ही होगा। दोनों आँखोंके रहते भी वे फूटी हैं; यहाँ ज्ञानमें बाधा है, कर्मोंमें बाधा पड़ रही है, चलने फिरनेमें भी बाधा है और आचार-विचार ? वे भी बाधामें बँधे हुए हैं ! इन सब बाधाओंको पार करना होगा और आनन्दपूर्वक उदार उच्च कण्ठसे मुक्त विहङ्गोंका स्वर अलापना होगा। सम्पूर्ण तिमिर-राशिका भेद करके अनन्त भुवनोंमें एकमात्र ऊर्द्धव सिर उस पूर्ण ज्योतिर्मयीको देखना होगा। चित्तकी सारी शंकाओंको दूर करके घोषणा कर—"हे दिव्य-धामवासी देवताओं ! तुम्हारी तरह हम भी अमृतके पुत्र हैं !"

महाकवि वर्त्तमान पश्चिमी सभ्यतापर कटाक्ष कर रहे हैं—

"शताब्दीर सूर्य आजि रक्तमेघ माझे
अस्त गेलो,—हिंसार उत्सवे आजि बाजे
अस्त्रे अस्त्रे मरणेर उन्माद-रागिनी
भयंकरी ! दयाहीन सभ्यता-नागिनी
तुलेछे कुटिल फण चक्षेर निमिषे !
गुप्त विष-दन्त तार भरी तीब्र विषे
स्वार्थे स्वार्थे बेधेछे संघात लोभे-लोभे
घ`छे संग्राम;—प्रलय मंथन-क्षोभे
भद्र वेशी बर्बरता उठियाछे जागी
'कशय्या होते ! लज्जा-शरम तेयागी

जाति-प्रेम नाम धरि चण्ड अन्याय !
ध`रे भासाते चाहे बलेर वन्याय
कवि-दल चीत्कारि` जागा या भीति
श्मशान-कुक्कुर देर काड़ा काड़ी-गीति !"

(रक्तवर्ण मेघोंमें आज शताब्दियोंके सूर्य—अस्त हो गये। आज हिंसाके उत्सवमें, अस्त्रोंकी झनकारके साथ ही साथ, मृत्युकी भयंकर उन्माद-रागिणी बज रही है। निर्भय सभ्यता-नागिनी अपने विषवाले दाँतोंमें तीखा जहर भरकर क्षण-क्षणमें अपना कुटिल फन खोल रही है। स्वार्थके साथ अस्वार्थका संघात हो रहा है,—लोभके साथ लोभका संग्राम मचा हुआ है। मथकर प्रलयको ला खड़ा करनेके उद्दाम रोषसे, भद्रवेशिनी वर्बरता अपनी पंक-शय्यासे जगकर उठी है, लाज-शर्मसे हाथ धो, जाति-प्रेमके नामसे प्रचंड अन्याय धर्मको अपने बलकी बाढ़में बहा देना चाहता है। कवियोंका समूह पञ्चमस्वरमें श्मशान-श्वानोंकी छीना-झपटीके गीत अलाप रहा है और लोगोंमें भयका संचार कर रहा है।)

शताब्दियोंके सभ्यता सूर्यको पश्चिमी रक्तवर्ण मेघोंमें अस्त करके, पश्चिमी सभ्यताका जो नग्न चित्र महाकविने इन पंक्तियोंमें दिखलाया है, वह तो पूरा उतरा ही है; इसके अलावा महाकवि की साहित्यिक बारीकियों पर भी यहाँ एकाएक ध्यान चला जाता है। उनकी इस उक्तिमें जितनी स्वाभाविकता आ गई है, उतनी ही उसमें कवित्व-कलाकी विभूति भी है। रक्तवर्ण मेघोंमें सभ्यता-सूर्य अस्त होते हैं। एक तो स्वभावतः सूर्यके अस्त होनेपर मेघ लाल-पीले देख पड़ते हैं, दूसरे मेघोंकी रक्तिम आभा पश्चिमी सभ्यताके संग्राम-वर्णनकी साहित्यिक छटाको और बढ़ा देती है; क्योंकि संग्राम या रजोगुणका रंग भी लाल है—इसी संग्राम या रजोगुणमें शताब्दियोंके सभ्यता-सूर्य अस्त हो गये हैं—अब वह उज्ज्वल प्रकाश नहीं है। अब ललाई मात्र रह गई है। इसके बाद है रात्रिका अंधकार—तमोगुण !

जातीय संगीतोंके गानेवाले कवियोंकी उपमा रवीन्द्रनाथने मरघटके कुत्तोंसे क्यों दी, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे चलकर इस तरह करते हैं—

"स्वार्थेर समाप्ति अपघाते। अकस्मात्
पूर्ण स्फूर्ति माझे दारुण आघात
विदीर्ण विकीर्ण करि चूर्ण करे तारे
काल-झंझा-झंकारित दुर्योग आंधारे।
एकेर स्पर्द्धारे कभू नाहीं देय स्थान
दीर्घकाल निखिलेर विराट विधान।
स्वार्थ जतो पूर्ण हय लोभ-क्षुधानल
तत तार बेड़े उठे,—विश्व धरातल
आपनार खाद्य बोलो ना करी विचार
जठरे पूरिते चाय!—बीभत्स आहार
बीभत्स क्षुधारे करे निदय निलाज।
तखन गर्जिया नामे तव रुद्र बाज।
छुटियाछे जाति-प्रेम मृत्युर सन्धाने
बाही स्वार्थ-तरी, गुप्त पर्वतेर पाने।"

(स्वार्थकी समाप्ति अपघातमें होती है—एकाएक स्वार्थीकी जान जाती है। जब वह अकड़-अकड़कर,—सीना तानकर चलने लगता है, तब उसके पापके घड़ेपर बैठता भी है समयका पुरज़ोर झपेड़ा) और वह फूटकर चूर-चूर हो जाता है। (काल-झंझाके दुर्योगान्धकारमें दारुण आघात उसकी परिपूर्ण स्फूर्तिको एकाएक चूर्ण-विचूर्ण कर देता है।)

ईश्वरीय विधान किसी की स्पर्धाको चिरकाल एक-सा नहीं रखता—किसीके यहाँ सब दिन घीके दिये नहीं बलते। और स्वार्थका पेट जितना ही भरता जाता है, उतना ही वह पैर भी फैलाता जाता है और उसकी भूख भी उतनी ही बढ़ती जाती है। इसीलिये वह, अपना भक्ष्य समझकर, विना विचारके ही, तमाम संसारको अपने पेटमें डाल लेना चाहता है! —वीभत्स भोजन उसकी वीभत्स क्षुधाको और निर्दय, और निर्लज्ज बनाता जाता है। तभी उसके मस्तक पर, हे विश्वेश! तुम्हारा रुद्र वज्र गरजकर टूट पड़ता है। अतएव, यह (पश्चिमी) जाति-प्रेम, अपनी ही

मृत्युकी तलाशमें, स्वार्थकी नाव खेता हुआ गुप्त पर्वतकी ओर चला जा रहा है।)

पश्चिमके जिन रक्ताभ मेघोंका उल्लेख पहले किया जा चुका है, उनके सम्बन्धमें आप कहते हैं—

"एई पश्चिमेर कोने रक्त-राग-रेखा
बहे कभू सौम्य-रश्मि अरुणेर लेखा
तव नव प्रभातेर! ए सुधू दारुण
सन्ध्यार प्रलय-दीप्ति! चितार आगुन
पश्चिम-समुद्र-तटे करिछे उद्गार
विष्फुलिंग—स्वार्थ दीप्त लुब्ध सभ्यतार
मशाल हइते लये शेष अग्नि-कणा।
एई श्मशानेर माझे शक्तिर साधना
तव आराधना नहे, हे विश्व-पालक!
तोमार निखिल-प्लावी आनन्द आलोक
हय तो लुकाये आछे पूर्व-सिन्धु तीरे
बहु धैर्ये नम्र स्तब्ध दुःखेर तिमिरे
सर्वरिक्त आश्रुसिक्त दैन्येर दीक्षाय
दीर्घकाल—ब्राह्ममुहूर्तेर प्रतीक्षाय!"

(पश्चिमके कोनोंमें लाल-लाल यह जो रेखा खिंची हुई है, इससे तुम्हारे नवप्रभातके सौम्यरश्मि सूर्यकी सूचना नहीं होती। यह तो भयंकरी सन्ध्याकी प्रलय-दीप्ति है। देखो न, समुद्रके पश्चिमी तटमें चिताकी आगसे चिनगारियाँ निकल रही हैं और इस चितामें आग कैसे लगी? स्वार्थसे जलती हुई लोभी सभ्यताकी मशालकी अन्तिम चिनगारी इस पर पड़ी थी। इस श्मशानमें शक्तिकी जो आराधना हो रही है वह तुम्हारी आराधना नहीं है। हे विश्वपालक! सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको बहा देनेवाला तुम्हारे आनन्द का मधुर प्रकाश कहीं समुद्रके पूर्वी तट में छिपा होगा—दुःखके साथ

अन्धकारमें बड़े धैर्यके साथ नम्र रहकर दीर्घकालसे दीनताकी दीक्षामें आँसू बहाता हुआ सर्वस्व गंवाकर वह 'ब्राह्म मुहूर्त' की प्रतीक्षा करता होगा।)

यहाँ इन पंक्तियोंमें महाकविके निर्मल हृदय-पट पर स्वदेश-प्रेमका वही मनोहर चित्र खिचा हुआ देख पड़ता है, जिसके चारुता-सम्पादनमें पहलेके ऋषियों और महर्षियोंने तपस्या करते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन पार कर दिया था। महाकविके हृदयमें ईर्ष्या और द्वेषकी एक कणिका भी नहीं देख पड़ती। वे अपनी हृदयहारिणी वर्णनामें किसी द्वेष-भाव-मूलक कविताकी सृष्टि नहीं करते। वे संसारको वही भाव देते हैं जो उन्हें अपने पूर्वजोंसे उत्तराधिकारके रूपमें मिले हैं। जिस तरह वे दूसरी जातियोंको जाति-प्रेमके नाम पर खूनकी नदियाँ बहाते हुए देखकर घृणापूर्ण शब्दोंमें याद करते हैं, उसी तरह अपने देशके उद्धारके लिये भी, वे उसे क्रान्तिका पाठ नहीं पढ़ाते। वे तो उसे, प्रतिभा और साहस, धर्म और विश्वास, दैव और पुरुषकारकी सहायतासे, निरस्त्र होकर भी संसारके समक्ष वीर्यका उदाहरण रखनेके लिये उपदेश देते हैं। यही भारतीयता है और यही उन्होंने जीवनमें परिणत कर दिखाया है। उन्होंने अनुभव किया है, संसार के अन्तःस्तलमें सर्वव्यापी परमात्मा का ही स्थान है, अतएव वे विरोधीभावके द्वारा संसारमें अपनी युक्तिके वढ़ानेका उपदेश कैसे दे सकते हैं? इस सम्बन्धमें वे स्वयं कहते हैं—

तोमार निर्द्दीप्त काले
मुहुर्तेई असम्भव आसे कोथा होते
आपनारे व्यक्त करी आपन आलोते
चिर-प्रतिक्षित चिर-सम्भवेर वेशे !
आछो तुमि अन्तर्यामी ए लज्जित देशे,
सबार अज्ञात सारे हृदये हृदये
गृहे-गृहे रात्रि-दिन जागरुक होये
तोमार निगूढ़ शक्ति करितेछे काज
आमी छाड़ीनाई आशा ओगो महाराज!"

(जब तुम्हारा निर्दिष्ट समय आ जाता है तब असम्भव चिरकालके आकांक्षितकी तरह चिर-सम्भवके रूपमें, मुहूर्तमें ही अपनेको व्यक्त करके न जाने कहाँसे आ जाता है ! हे अन्तर्यामिन् ! इस लज्जित देशमें भी तुम हो। सबके अज्ञात भावसे हृदय-हृदयमें—गृह-गृहमें जाग्रत रहकर तुम्हारी ही गूढ़ शक्ति अपना कार्य कर रही है। अतएव, हे महाराज ! मैंने आशा नहीं छोड़ी।)

देखिये आप महाकविके भावको, देखिये उनके हृदयके विश्वासको और उनकी भारतीयताको। यहाँ महाकवि साधारण तौर पर ईश्वरकी ही इच्छाको इच्छा और उन्हींके कर्मको कर्म मान रहे हैं। उनकी अलक्षित शक्तिके द्वारा ही, समयके आनेपर, असम्भव सम्भवके आकारमें बदल जाता है और उनकी इच्छाकी पूर्ति होती है, इससे बड़ी भारतीयता हमारी समझमें तो और कुछ नहीं हो सकती। क्योंकि, अवतारवादकी जड़ एकमात्र यही भाव है। असम्भवको सम्भव कर दिखानेकी प्रचण्ड शक्तिको लेकर जो पैदा होते हैं—जिनके आविर्भावसे संसारमें एक युग-परिवर्तनसा हो जाता है, भारतमें उन्हें ही अवतारकी आख्या दी जाती है। महाकवि भी इस आशय की पुष्टि करते हैं।

इस तरह, स्वदेशके सम्बन्धमें आपने और भी अनेक कविताओंकी रचना की है। बङ्गलक्ष्मी, मातार आह्वान्, हिमालय, शान्ति, यात्रा-संगीत, प्रार्थना, शिला-लिपि, भारत-लक्ष्मी, से आमार जननी रे, नववर्षेरगान, भिक्षायां नैव नैव च—आदि कितनी ही कविताएँ महाकविने देशभक्तिके उच्छ्वासमें आकर लिखी हैं और इनमें सभी कविताएँ महाकविकी वर्णन-विशेषता प्रकट कर देती हैं। आपके 'प्राचीन भारत' पद्यका कुछ अंश हम पाठकोंके मनोरंजनार्थ उद्धृत कर चुके हैं। लोकाचार या देशाचारको आप किन शब्दोंमें याद करते हैं, जरा यह भी सुन लीजिये,—बहुत छोटी कविता है, नाम है 'दुइ उपमा'।

"जे नदी हाराये स्रोत चलिते ना पारे,
सहस्र शैवाल-दाम बांधे आसि तारे;

जे जाति जीवनहारा अचल असार
पदे-पदे बांधे तारे जीर्ण लोकाचार !
सर्व जन सर्व क्षण चले जेई पथे,
तृण-गुल्म सेथा नाहीं जन्मे कोनो मते--
जे जाति चलेना कभू, तारि पथ परे
तन्त्र मन्त्र संहितार चरण ना सरे !

जिस नदीका प्रवाह रुक जाता है, वह फिर बह नहीं सकती है। फिर तो सेवारकी हजारों जंजीरें उसे आकर जकड़ लेती हैं। इसी तरह जिस जातिके जीवनका नाश हो गया है--जो जाति अचल और जड़वत हो गई है, उसे भी, पद-पदपर, जीर्ण-लोकाचार जकड़ लेते हैं। जो आम रास्ता है--जिसपर लोग सब समय चलते-फिरते हैं, उसमें कभी घास नहीं उग सकती। इसी तरह, जो जाति कभी चलती नहीं, उसके पथपर तन्त्र, मंत्र और संहिताएँ भी पंगु हैं।)

कंधेमें भिक्षाकी झोली डालकर जो लोग राज्य-प्राप्तिकी आशासे दूसरों का दरवाज़ा खटखटाया करते हैं; उनके प्रति विदेशियोंका कैसा भाव है, इसके सम्बन्धमें भी महाकविकी उक्ति सुन लीजिये। परन्तु पहले हम इतना कह देना चाहते हैं कि रवीन्द्रनाथ अपनी कवितामें व्यक्तिगत आक्षेप करके किसीका दिल नहीं दुखाना चाहते। वे जो कुछ कहते हैं, अपने स्वदेशको ही लक्ष्य करके कहते हैं--

"जे तोमारे दूरे राखि नित्य घृणा करे
हे मोर स्वदेश,
मोरा तारि काछे फिरि सम्मानेर तरे
परी तारी वेश !
विदेशी जानेना तोरे अनादरे ताई
करे अपमान,
मोरा तारि पिछे थाकी योग दिते चाई
आपन सन्मान !

तोमार जे दैन्य मातः ताई भूषा मोर
केन ताहा भूली,
परधने धिक् गर्व, करी कर जोड़
भरी भिक्षा-झुली !
पुण्य हस्ते शाक अन्न तुली दाव पाते
ताई जेनो रुचे,
मोटा वस्त्र बुने दाव यदि निज हाते
ताहे लज्जा घुचे !
सेई सिंहासन यदि अञ्चलटी पातो
करो स्नेह दान,
जे तोमारे तुच्छ करे, से आमारे मातः
कि दिबे सम्मान !"

(ऐ मेरे स्वदेश ! जो मनुष्य तुम्हें दूर रखकर नित्य ही तुमसे घृणा किया करता है, हम सम्मानके लिये उसीके वेशमें उसके पास चक्कर लगाया करते हैं ! विदेशी तुम्हें (तेरी महत्ता को) नहीं जानते, इसलिये उनमें निरादरका भाव है और वे तुम्हारा अपमान किया करते हैं, और हम तुम्हारी गोदके बच्चे उनके पीछे लगे हुए, उनके इस कार्यकी सहायता किया करते हैं ! माँ ! तुम्हारी दीनता ही मेरे वस्त्र और आभूषण हैं, इस बातको मैं क्यों भूलूं—माँ ! दूसरेके धनके लिये अगर गर्व हो तो उस गर्वपर धिक्कार है। हाथ जोड़कर हम भीखकी झोली भरते हैं । माँ ! अपने पवित्र हाथोंसे तुम जो रोटियाँ और भाजी—थालीपर रख देती हो, ईश्वर करे, उसी भोजनमें हमारी रुचि हो, और अपने हाथोंसे तुम जो मोटे कपड़े बुन देती हो, उन्हींसे हमारी लज्जा-निवृत्ति हो—हमारी देह ढक जाय। अपने स्नेहका दान करनेके लिये यदि तुम अपना अंचल बिछा दो, तो हमारे लिये वही सिंहासन है, मां ! तुम्हें जो तुच्छ समझता है वह हमें कौन-सा सम्मान दे देगा ?)

महाकविका संकल्प

महाकवि रवीन्द्रनाथकी कविताओंका एक भाग अलग है। उसमें कुछ कविताएँ 'संकल्प'के नामसे एकत्र की गई हैं। इन कविताओंमें एक विचित्र सौंदर्य है। सावनकी सिंची लताओंकी तरह इनकी सुकुमार आभा महाकविके मनोरम काव्योद्यानकी और भी शोभा बढ़ाती हैं। इनसे उनके पल्लवित काव्य-कुंजोंमें एक दूसरी ही श्री आ गई है। महाकविके संकल्पके रूपमें जो भाव आये हैं, उनसे उनकी सुकुमार कल्पना-प्रियताके साथ उनकी कोमल भावनाओंकी भी यथेष्ट सूचना मिलती है।

कविके संकल्पके जाननेकी आवश्यकता भी है। वह क्या चाहता है, उसका उद्देश क्या है। वह अपने जीवनका प्रवाह किस ओर बहा ले जाना चाहता है, उसकी भावनाओंमें किसी खास भावकी अधिकता क्यों हुई? ये सब बातें हमें अच्छी तरह तभी मालूम हो सकती हैं जब कवि स्वयं उनमें अपनी कवित्व-कलाकी ज्योति भरे और उन्हें आइनेसे भी साफ, इतिहाससे भी सरल करके रखे।

महाकविका संकल्प क्या है, यह उन्हींके मुखसे सुनिये—

"संसारे सबाइ जबे साराक्षण शत कर्मे रत
तुइ शुधू छिन्नबाधा पलातक बालकेर मत
मध्याह्ने माठेर माझे एकाकी विषण्ण तरुच्छाये
दूर-वनगन्धवह मन्दगति क्लान्त तप्त वाये
सारा दिन बाजाइलि बांशी!—ओरे तुइ उठ आजि
आगुन लेगेछे कोथा? कार शंख उठियाछे बाजि
जागाते जगत जने? कोथा होते ध्वनिछे क्रन्दने
शून्यतल? कोन अन्धकार माझे जर्जर बन्धने

अनाथिनी मागिछे सहाय ? स्फीतकाय अपमान
अक्षमेर वक्ष होते रक्त शोषि करितेछे पान
लक्ष मुख दिया ! वेदनारे करितेछे परिहास
स्वार्थोद्धत अविचार ! संकुचित भीत क्रीतदास
लुकाइछे छद्मवेशे ! ओइ जे दांड़ाये नतशिर
मूक सबे,--म्लान मुखे लेखा सुधू शत शताब्दीर
वेदनार करुण काहिनी; स्कन्धे जतो चापे भार--
बहि चले मन्दगति जतक्षण थाके प्राण तार,--
तार परे सन्तानेरे दिये जाय वंश वंश धरि;
नाहीं भर्त्से अदृष्टेरे, नाहीं निन्दे, देवतारे स्मरि
मानवेरे नाहीं देय दोष, नाहीं जाने अभिमान,
सुधू दुटी अन्न खुंटी कोनो मते कष्ट विनष्ट प्राण
रेखे देय बाँचाइया ! से अन्न जखन केह काड़े,
से प्राणे आघात देय गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचारे,
नाहीं जाने कार द्वारे दांड़ाइबे विचारेर आशे,
दरिद्रेर भगवाने बारेक डाकिया दीर्घश्वासे
मरेसे नीरवे;--एइ सब मूढ़ म्लान मूक मुखे
दिते हबे भाषा, एई सब श्रान्त शुष्क भग्न बुके
ध्वनिया तुलिते हबे आशा; डाकिया बलिते हबे--
मुहूर्त तुलिया सिर एकत्र दांड़ाओ देखी सबे !
ज़ार भये तुमी भीत से अन्याय भीरु तोमा चेये,
जखनि जागिबे तुमी तखनि से पलाइबे धेये;
जखनि दांड़ाबे तुमी सम्मुखे ताहार,--तखनि से
पथ-कुक्कुरेर मत संकोचे सत्रासे जाबे मिशे;
देवता विमुख तारे, केहो नाहीं सहाय ताहार
मुखे करे आस्फालन, जानेसे हीनता आपनार
मने मने !--

(जब संसारमें, सब आदमी, सब समय, सैकड़ों कामोंमें लगे रहते हैं, तब भागे हुए बन्धनविहीन बालककी तरह, दुपहरके समय, बीच मैदान में, तरुकी विषादमग्न छायाके नीचे, दूर-दूरके जंगलोंसे सुगन्धको ढोकर ले आती हुई—धीमी—थकी और तपी हुई हवामें अकेले बैठे हुए तूने खूब तो बाँसुरी फूंकी; भला आज अब तो उठ । क्या तू नहीं जानता ?—कहाँ आग लगी हुई है,—संसारके आदमियोंके जागनेके लिये किसका शङ्ख बज रहा है ?—कहाँके उठते हुए क्रन्दनसे आकाश ध्वनित हो रहा है,—किस अन्धेरेमें पड़ी बन्धनोंसे जकड़ी हुई अनाथिनी सहायताकी प्रार्थना कर रही है ! अरे देख,—वह देख—पीनोन्नत-शरीर अपमान अक्षमोंके वक्षसे खून चूस-चूसकर, अपने लाखों मुखोंसे पान कर रहा है !—स्वार्थसे उद्धत अविचार वेदनाका परिहास कर रहा है !—भयसे सिकुड़ा हुआ गुलाम भेष बदलकर छिप रहा है !—वह देख, सब-के-सब सिर झुकाये हुए खड़े हैं—किसीकी जबान भी नहीं हिलती !—और देख उनके म्लान मुखोंमें शत-शत शताव्दियोंकी वेदनाकी करुण-कहानी लिखी हुई है !—उनके कन्धेपर जितना भी बोझ रक्खा जाता है, जबतक प्राण हैं, वे उसे धीरे-धीरे ढोये चलते हैं, और फिर यही बोझ वे अपनी सन्तानोंको वंश-परम्परागत अधिकारके रूपसे दे जाते हैं—न इसके लिये अपने भाग्यको ही कोसते हैं, न विधाताकी याद करके उनकी निन्दा ही करते हैं और न दूसरे मनुष्यको ही कोई दोष देते हैं; अधिक और क्या, वे इसके लिये अभिमान करना भी नहीं जानते; बस चार दाने चुनकर किसी तरह दुःखसे पिसे हुए प्राणोंको बचाये रक्खे हैं ! जब कोई उनका यह अन्न भी छीन लेता है—जब गर्वान्ध निष्ठुर अत्याचारी उन जैसे प्राणोंको भी आघात पहुँचाता है, तब उसे हाय इतना भी नहीं समझ पड़ता कि विचारकी आशासे किसके द्वारपर वह जाकर खड़ा होगा !—यह निश्चय है कि एक वह समय आता है जब दरिद्रोंके ईश्वरका एक वार स्मरण करके दीर्घ श्वासके साथ ही वह अपनी मानव-लीलाकी समाप्ति कर देता है । इन सब थके हुए—सूखे हुए—भग्न-हृदयोंमें शब्दोंकी प्रतिध्वनिके साथ आशाको जागृत करना होगा; इन्हें

पुकार-पुकारकर, कहना होगा—"जरा थोड़ी देरके लिये सिर ऊँचा करके एक साथ सब खड़े तो हो जाओ। जिस भयसे इतना तुम डर रहे हो वह अन्याय तुमसे भी भीरु है। तुम जागे नहीं कि वह भागा। तुम उसके सामने खड़े हुए नहीं कि वह रास्तेके कुत्तेकी तरह संकोच और त्रासके मारे सिकुड़कर रह जायगा। उससे देवता भी विमुख हैं, उसका सहायक कोई नहीं, उसका यह जितना रोब-दाब है--जितनी बड़ी-बड़ी बातें वह करता है, यह सब बस जवानी जमाखर्च है,--मन ही मन वह अपनी हीनता--अपनी कमज़ोरियोंको खूब समझता है।)

"कवि, तबे उठे ऐसो,--यदि थाके प्राण
तबे ताई लहो साथे,--तबे ताई आजि कर दान।
बड़ो दुःख बड़ो व्यथा,--सम्मुखे कष्टेर संसार
बड़ई दरिद्र, शून्य, बड़ो क्षुद्र बद्ध अन्धकार
अन्न चाई, प्राण चाई, आलो चाई, चाई मुक्त वायु,
चाई बल, चाई स्वास्थ्य, आनन्द-उज्ज्वल परमायु,
साहस विस्तृत वक्षपट। ए दैन्य माझारे, कवि,
एकवार निये एसो स्वर्ग होते विश्वासेर छवि!
एवार फिराओ मोरे, लोये जाओ संसारेर तीरे।
हे कल्पने, रङ्गमयि! दुलायोना समीरे समीरे
तरंगे-तरंगे आर! भुलायो ना मोहिनी मायाय!
विजन विषाद-घन अन्तरेर निकुञ्जच्छायाय
रेखो ना बसाये आर! दिन जाय, संध्या होये आसे!
अन्धकारे ढाके दिशि, निराश्वास उदास बातासे
निश्वसिया कैंदे उठे वन! बाहिरिनु हेथा होते
उन्मुक्त अम्बर तले, धूसर-प्रसर राजपथे,
जनतार माझ खाने! कोथा जाव, पान्थ, कोथा जाव,
आमी नहीं परिचित, मोर पाने फिरिया ताकाव!
बल मोरे नाम तव, आमारे कोरो ना अविश्वास!

सृष्टि छाड़ा सृष्टि माझे बहुकाल करियाछि वास
संगिहीन रात्रि दिन; ताइ मोर अपरूप वेश,
आचार नूतनतर; ताई मोर चक्षे स्वप्नावेश,
वक्षे ज्वले क्षुधानल !--जे दिन जगते चले आसी,
केन् मां आमारे दिली सुधू एई खेलीवार बांशी !
बाजाते बाजाते ताई मुग्ध होये आपनार सुरे
दीर्घ दिन दीर्घ रात्रि चले गेनु एकान्त सुदूरे
छाड़ाये संसार सीमा !--से वांशीते सिखेछि जे सुर
ताहारी उल्लासे यदि गीतशून्य अवसाद-पुर
ध्वनिया तुलिते पारी, मृत्युञ्जयी आशार संगीते,
कर्म हीन जीवनेर एक प्रान्त पारी तरंगिते
सुधू मुहुर्तेर तरे, दुःख यदि पाय तार भाषा,
सुप्ति होते जेगे उठे अन्तरेर गभीर पिपासा
स्वर्गेर अमृत लागी, तबे धन्य हबे मोर गान,
शत शत असन्तोष महागीते लभिबे निर्वाण ।"

(कवि ! तो फिर बैठे क्यों हो ?—उठो—चलो,—तुम्हारे पास कुछ नहीं है ?—प्राण ?—प्राण तो हैं ।—वस इतना ही अपने साथ लेलो,—आज जरा अपने प्राणोंका दान तो करके देखो । देखो—यहाँ बड़ा दुःख है—बड़ी व्यथाएँ हैं !—देखो अपने सामने जरा उस दुःखके संसार को—बड़ा ही दरिद्र है—शून्य है—क्षुद्र है—बड़ा ही क्षुद्र—अन्धकारमें बद्ध हो रहा है !—सुनो उसे अन्न चाहिये—प्राण चाहिये—आलोक चाहिये—खुली हवा चाहिये । और ?—और चाहिये बल–स्वास्थ्य–आयु, आनन्दसे भरी, चमकीली, और हृदय दृढ़,—साहस सुविस्तृत । इस दीनताके भीतर कवि ! एक बार–वस एक बार स्वर्गसे विश्वासकी छबि उतार लाओ । रंगमयि कल्पने ! अब मुझे लौटा संसारके तटपर ले चल—हवाके झोंकोंमें, तरंगों में, अब मुझे न झुला—अपनी मोहिनी मायामें अब मुझे न मोह—निर्जन और विषादसे गहरी अन्तःस्तलकी कुंज-छायामें अब मुझे बैठा न रख । दिन

बीत जाता है, शाम हो आती है; दिशाओंको अन्धकार ढक लेता है; आश्वास-तक-न-देनेवाले उदास वायुमें साँस ले-लेकर वन रो उठता है! यहाँसे खुले आकाशके नीचे, धूलि-धूसर फैले हुए राज-पथमें, जनताके बीच, मैं निकल गया। पथिक—ओ पथिक! कहाँ जाते हो? मुझसे तुम्हारा पहलेका कोई परिचय तो नहीं है—परन्तु सुनो, मेरी ओर जरा दृष्टि फेरो; मुझे अपना नाम तो बतलाओ—मुझपर अविश्वास न करो, मैं एक अजीब आदमी हूँ—जान पड़ता है, सृष्टिसे अलग हूँ, परन्तु बहुत दिन मैं इस सृष्टिमें रह भी चुका हूँ—दिन-रात अकेला, बिना-साथीका। इसीलिये तो मेरा यह विचित्र वेश है,—नये ढंगके आधार हैं; इसीलिये मेरी आँखोंमें स्वप्नका आवेश है, हृदयमें भूखकी ज्वाला उठ रही है। माँ! तूने मुझे सिर्फ यह खेलनेकी वंशी क्यों पकड़ाई, जिस दिन मैं संसारमें चला आया था। इसीलिये तो बजाता हुआ अपने स्वरसे मुग्ध होकर, दीर्घ दिन और दीर्घ रात्रि लगातार मैं चलता ही गया और एकान्तमें बहुत दूर संसारकी सीमा छोड़कर निकल गया। उस वंशीसे जो स्वर मैंने सीखा है, उसीके उच्छ्वाससे यदि गीत-शून्य इस अवसाद-पुरीको प्रतिध्वनित करके मैं जगा सका—मृत्युको जीतनेवाले आशाके संगीतोंसे यदि एक मुहूर्तके लिये भी कर्महीन जीवनके एक प्रान्तको मैं तरंगित कर सका—दुःखको यदि भाषा मिल गई—सुप्तिके भीतरसे यदि अन्तरकी प्रखर प्यास स्वर्गके अमृतके लिये जग पड़ी,—तो मेरा गान धन्य हो जायगा,—सैकड़ों असन्तोषोंको महागीतके द्वारा निर्वाणकी प्राप्ति हो जायगी।)

"कि गाहिबे, कि सुनाबे!—बल, मिथ्या आपनार सुख,
मिथ्या आपनार दुःख! स्वार्थमग्न जे जन विमुख
बृहत् जगत् होते जे कखनो सेखेनि बांचिते!
महाविश्व जिवनेर तरंगेते नाचिते नाचिते
निर्भये छुटिते हबे सत्येरे करिया ध्रुवतारा!
मृत्युरे करिना शंका! दुर्दिनेर अश्रु जलधारा
मस्तके पड़िबे झरि—तारि माझे जाबो अभिसारे

तार काछे, जीवन सर्वस्वधन अर्पियाछि जारे
जन्म जन्म धरि ! — — —
— — — —
— — तारि लागी रात्रि–अन्धकारे
चलेछे मानव-यात्री युग होते युगान्तर पाने
झड़-झंझा वज्रपाते, ज्वालाये धरिया सावधाने
अन्तर प्रदीप खानि ! — — —
— — — —
— — —छुटेछे से निर्भीक पराणे
संकट-आवर्तमाझे, दियेछे से विश्व-विसर्जन,
निर्यातन लयेछे से वक्ष पाती; मृत्युर गर्जन
सुनेछे से संगीतेर मतो ! — — —
— — — —
हृत्पिण्ड करिया छिन्न रक्तपद्म अर्घ्य-उपहारे
भक्ति भरे जन्मशोध शेष पूजा पूजियाछे तारे
मरणे कृतार्थ करि प्राण ! सुनियाछि तारी लागी
राजपुत्र परियाछे छिन्न कन्था विषम-विरागी
पथेर भिक्षुक; — — — —
— — — —
— —प्रिय जन करियाछे परिहास
अति परिचित अवज्ञाय; गेछे से करिया क्षमा
नीरवे करुण नत्रे—अन्तरे वहिया निरुपमा
सौन्दर्य प्रतिमा ! — — —
— — —मुधु जानी से ताहारि महान
गम्भीर मंगल-ध्वनि सुना जाय समुद्रे समीरे,
ताहारि अंचल-प्रान्त लुटाई नीलाम्बर घिरे,
तारि विश्वविजयिनी परिपूर्ण प्रेममूर्ति खानि

विकाशे परम क्षणे प्रियजन मुखे! सुधू जानी
से विश्व-प्रियार प्रेमे क्षुद्रतारे दिया बलिदान
बर्ज्जिते हइबे दूरे जीवनेर सर्व असम्मान,
सम्मुखे दांड़ाते हबे उन्नत मस्तक उच्चे तुलि--
जे मस्तके भय लेखे नाई लेखा दासत्वेर धूलि
आंके नाई कलंक-तिलक! ताहारे अन्तरें राखी
जीवन-कण्टक-पथे जेते हबे नीरवे एकाकी,
सुखे-दुखे धैर्य धरी, विरले मूछियां अश्रु आंखी,
तिदिवसेर कर्मे प्रतिदिन निरलस थाकी
सुखी करी सर्व जने! तार परे दीर्घ पथशेषे
जीवयात्रा-अवसाने क्लान्त पदे रक्त-सिक्त वेशे
उत्तरिव एक दिन श्रान्तिहारा शान्तिर उद्देशे
दुःखहीन निकेतने! प्रसन्न वदने मन्द हेसे
पराबे महिमा लक्ष्मी भक्त कण्ठे वरमाल्य खानी,
करपद्म परशे शान्त हबे सर्व-दुःख ग्लानी
सर्व अमङ्गल! लुटाइया रक्तिम चरण तले
धौत करि दिब पद आजन्मेर रुद्ध अश्रु जले।
सुचिर संचित आशा सम्मुखे करिया उद्घाटन
जीवनेर अक्षमता कांदिया करिबे निवेदन,
मागिब अनन्त क्षमा! हय तो घुचिबे दुःख निशा,
तृप्त हबे एक प्रेमे जीवनेर सर्व प्रेम तृषा!"

(कवि तुम क्या गाओगे?—क्या सुनाओगे? यह गाना और सुनाना सब व्यर्थ है। बल्कि यह कहो कि अपने सुख और दुःख मिथ्या हैं। जो मनुष्य अपने स्वार्थमें पड़ा हुआ है, जो बृहत् संसारसे विमुख है, उसने वचना नहीं सीखा! महाविश्वकी जीवन-तरङ्गोंपर नाचते हुए, सत्यको ध्रुवतारा करके, निर्भय होकर हमें तेजीके साथ बढ़ना होगा। हम मृत्युकी शंका नहीं करते। हमारे दुर्दिनकी अश्रु जलधारा मस्तकपर झरती रहेगी

और उसीके भीतरसे हमारा अभिसार उसके निकट जानेके लिये होगा जिसे हम हर जन्मसे अपना जीवन-सर्वस्व धन देते आ रहे हैं। × × × उसी के लिये, रातमें—अंधेरेमें—आँधी, तूफान और वज्रपातमें भी मानव-यात्री अन्तर-प्रदीपको जलाकर उसे सावधानीसे पकड़े हुए एक युगसे दूसरे युगकी ओर चला जा रहा है। × × × वह संकटके आवर्तोंसे निर्भय होकर दौड़ा चला जा रहा है। उसने विश्वका विसजन कर दिया है, उसने हृदय खोलकर निर्यातन स्वीकार कर लिया है, उसने मृत्युके गर्जनको संगीत की तरह सुना है। × × × × × अपने हृदय-पिण्डको छिन्न करके, रक्तपद्मकी तरह अर्घ्य और उपहारके रूपमें जीवनभरके लिये, भक्ति-पूर्वक उसने उसकी अन्तिम पूजा की है—मृत्युके द्वारा अपने प्राणोंको कृतार्थ करके मैंने सुना है, उसीके लिये राजपुत्रने फटे कपड़े पहने हैं—विषयोंसे विरक्त होकर वह रास्तेका, भिक्षुक बन गया है। × × × उसके प्रियजनोंने एक अत्यन्त परिचित अवज्ञाके द्वारा उसका परिहास किया है; परन्तु वह, उन्हें क्षमा करके, करुणापूर्ण नेत्रोंसे चुपचाप चला गया है—हृदयमें अपनी निरुपमा सौन्दर्य-प्रतिमाका ध्यान लेकर। × × × मैं तो बस इतना ही जानता हूँ कि वह उसीकी महान मंगल-ध्वनि है जो समुद्रमें और समीरमें सुन पड़ रही है, नील अम्बरको घेरकर लोटता हुआ यह उसीके अंचलका छोर है, उसीकी, विश्वको जीत लेनेवाला, परिपूर्ण प्रेमकी मूर्ति, शुभ समयके आने पर अपने प्रियके मुखको विकसित कर देती है। मैं बस इतना ही जानता हूँ कि उस विश्वप्रियाके प्रेममें क्षुद्रताकी बलि देकर, जीवनके सम्पूर्ण असम्मान को दूर हटाना होगा, उन्नत मस्तकको और ऊँचा करके सामने खड़ा होना होगा—उस मस्तकको उठाना होगा जिसमें भयकी रेखा नहीं खिची—दासताकी धूलिने जिस पर कलंकका टीका नहीं लगाया। उसे ही अन्तरमें रखकर जीवनके कंटकाकीर्ण मार्ग पर चुपचाप अकेला जाना होगा,—सुख और दुःखमें धैर्य रखकर, एकान्तमें आँसू पोंछते हुए,—प्रति दिनके कर्मोंमें सब समय आलस छोड़ और सब आदमियोंको सुखी करके। इसके पश्चात् दीर्घ पथके जीवनकी प्रगतिकी समाप्ति होने पर,

थके हुए पैरों और खूनमें डूबे हुए अपने वेशको लेकर, श्रान्तिहीन शांतिके उद्देश्य पर चलता हुआ एक दिन मैं उस स्थानमें पहुँचूंगा जहाँ दुःखका नाम भी नहीं है। प्रसन्नतापूर्वक मन्द-मन्द हंसती हुई महिमालक्ष्मी भक्तके कण्ठमें वरमाल्य डालेगी, जिसके कर-पद्मका स्पर्श करते ही सम्पूर्ण दुःख, ग्लानि और अमङ्गल शांत हो जायंगे। उसके रक्तिम चरणों पर लोटकर मैं अपने जीवन भरके रुके हुए आँसुओंसे उसके पैर धो दूंगा। चिरकालसे संचित की हुई आशाको उसके सामने प्रकट करके मैं रो-रो कर अपने जीवनकी अक्षमताएँ निवेदित करूँगा, और अनन्त क्षमा माँगूंगा; सम्भव है, इससे मेरी दुःख-निशाका अवसान हो और एक ही प्रेमके द्वारा जीवनकी सब प्रकारकी प्रेम-तृष्णाएँ तृप्त हों।)

कैसा अद्भुत संकल्प है! कितने ही दिनोंसे संचित किये हुए भावोंका भाण्डार, संकल्पके चित्रोंमें, पाठकोंको अमूल्य रत्न दे रहा है। महाकविके इस संकल्पमें, मनुष्य-जीवनका कर्त्तव्य, दीनोंकी दशाका वर्णन, उनके उत्थान का उपाय, नीचताका तिरस्कार, इन्हीं सब सांसारिक भावोंकी गणना की गई है। दीनोंकी दुर्दशाके साथ कविकी पूर्ण सहानुभूति पाई जाती है। परन्तु कविका यह भाव बदल जाता है। अन्तमें वह संसार छोड़ देता है। अपने गीतोंकी भीम गर्जनाके द्वारा पददलित संसारको बार-बार प्रतिध्वनित करके जगाना वह भूल जाता है। उसे यह सब अचिर, नश्वर और क्षणस्थायी जान पड़ता है। इस संसारसे उसकी विरक्ति हो जाती है। यहाँ बड़ोंमें भी वह स्वार्थ देखता है और छोटोंमें भी उसे वही शब्द सुन पड़ता है। वह इस क्षुद्र जगत्को पार कर जाता है। जहाँ मृत्युको हृदयसे लगानेवाले परम प्रेमी विरागी संसारका त्याग कर चले जाते हैं— जहाँ महाराजाधिराज भी अपनी सुख-सम्पदाको छोड़कर अपने प्रियतमसे मिलनेके लिये चले जाते हैं और वज्रप्रहारको भी धैर्यपूर्वक सह लेनेके लिये तैयार रहते हैं, आँसुओंको पीकर प्रेमके उसी कंटकाकीर्ण पथको पार करनेके लिये कवि भी तैयार हो जाता है। परन्तु जिसके पास पहुँचनेके लिये वह इतना उद्यम करता है, वह है कौन?—सम्पूर्ण विश्व-

ब्रह्माण्डकी सौन्दर्य-प्रतिमा—जिसके उद्देश्यमें कवि प्रेमके अगणित संगीतोंकी सृष्टि करके बहा देते हैं, आसमानमें जिसका आँचल लोटता है।

यह प्रश्न उठता है कि पहले तो कवि दीनोंकी दुर्दशाका दिग्दर्शन करता है,—उनके अपमानको दूर करने, उन मूकोंको भाषा देने, उनमें जीवन संचार करनेका संकल्प करता है, वह कवि बनकर अपने स्वरसे संसारका प्रांत तरङ्गित कर देनेके लिये इच्छा प्रकट करता है—फिर एकाएक उसे इस तरह उसी संसारसे विराग क्यों हो जाता है ?

इसका उत्तर देनेसे पहले हम प्रासंगिक कुछ दूसरी बातें कहना चाहते हैं। इस इतने बड़े पद्यमें ऐसी सुन्दर अर्थ-संगति रखना रवीन्द्रनाथ जैसे कवित्वकलाके पारदर्शी महाकविका ही काम था। पहले रवीन्द्रनाथकी अद्भुत शब्द-शृङ्खला पर ध्यान दीजिये। एक-एक भावकी लड़ी चालीस-चालीस पचास-पचास पंक्तियों तक बढ़ती ही चली गयी है; और तारीफ यह कि भाव कहीं छूटने-टूटने नहीं पाया। जान पड़ता है, शब्द और भाव उनके गुलाम हैं, इच्छामात्रकी देर होती है और वे हाथ बांधकर हाजिर हो जाते हैं। बहुतसे विद्वानों की राय है कि, कविताका सौन्दर्य यह है कि शब्द थोड़े हों और भाव अधिक और गहन; इस तरह कविताका सौन्दर्य ज्यादा खुलता है, जैसे बिहारीके दोहे। इस कथनमें सत्यकी छाया नहीं है सो बात नहीं। परन्तु कविताके सौन्दर्य की व्याख्याके लिये एक-कथनको ही सत्य मान लेना वैसी ही भूल होगी जैसी साकार और निराकारके झगड़ेमें अक्सर हुआ करती है। यह कोई बात नहीं कि सौन्दर्य विन्दुमें ही हुआ करता है, सिन्धुमें नहीं। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि विन्दुका सौन्दर्य अलग है और सिन्धुका अलग। जो लोग शब्द बिन्दुमें कवित्वसिन्धुके भर देनेको उच्चकोटिकी कविता बतलानेके आदी हो रहे हैं, उनसे हम विनयपूर्वक कहेंगे, भाई ! आपकी उक्तिमें तर्कका विरोध होता है। क्योंकि विन्दुमें कभी सिन्धु समा नहीं सकता, हां बिन्दुमें सिन्धुका चित्र भले ही पड़ जाय। आंखकी पुतली पर संसारका एक बहुत बड़ा चित्र पड़ता है, इसलिये क्या कोई यह कह सकता है कि आँखमें संसार

समा गया ? वह तो ज्योंका त्यों बाहर ही रहता है, कभी किसीकी आंखका आपरेशन करके संसारका एकाध टुकड़ा अबतक बाहर नहीं निकाला गया । विन्दुमें सिन्धुको भर देनेवाली बातपर भी यही एतराज है । यह हम मानते हैं कि पथ्यके एक जरासे टुकड़ेमें सौन्दर्यकी मात्रा बहुत हो सकती है; परन्तु इस तरह टुकड़ोंमें ही सौन्दर्य भरनेके लिये हम कवियोंको सलाह नहीं दे सकते । क्योंकि बिन्दुमें सिन्धुकी छाया पड़नेपर एक सौंदर्य पैदा होता है और सिन्धुमें सुन्दर अगणित बिन्दुओंको देखकर एक और सौन्दर्य । यह कोई बात नहीं कि सब समय थोड़ेमें ही बड़ेके दर्शन किये जायं और बड़ोंमें असंख्य क्षुद्रोंके नहीं ।

महाकवि रवीन्द्रनाथके इस पूर्वोद्धृत पद्यमें यदि कोई बिन्दुमें सिन्धुकी छाया देखना चाहे तो उसे निराश होना होगा । उसमें वह आनन्द है जो सिन्धुमें अगणित बिन्दुओंको देखकर होता है । अस्तु ! पहले संसारके घोर उत्पीड़नको देखना, उत्पीड़न के यथार्थ मर्मको खोलना, उत्पीड़ितोंको उत्पीड़नके सामने लाकर खड़ा करना ! उनके अगनित असन्तोषोंको अपने गीतके द्वारा निर्वाणकी प्राप्ति कराना, तब स्वयं निर्वाणके पथपर निकलना और. सत्यं शिवं सुन्दरंकी मूर्ति—अपनी निरुपमा सौन्दर्यमयी—से मिलना, इस क्रममें कैसा सुन्दर संगीत है, इस पर पाठक ध्यान दें । रवीन्द्रनाथ तबतक निर्वाणकी प्राप्ति के लिये नहीं निकलते जबतक सैकड़ों असन्तोषोंको उनके गीतोंके द्वारा निर्वाणकी प्राप्ति नहीं हो जाती । इसमें संदेह नहीं कि जहां आपने कविको सम्बोधन करके कहा है—क्या गाओगे—क्या सुनाओगे ! कहो, हमारे ये सुख और दुःख मिथ्या हैं, जो स्वार्थमग्न है वह वृहत् संसारसे विमुख है—उसने बचना नहीं सीखा, वहां उनकी इन पंक्तियोंसे सूचित हो जाता है कि उनके गीतोंसे सम्पूर्ण असन्तोषोंको निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती । यदि सम्पूर्ण असन्तोषोंको निर्वाण लाभ हो गया होता तो आगे चलकर स्वार्थमग्न मनुष्योंको वृहत् संसारसे विमुख बतलाकर महाकवि एकाएक वैराग्य धारण न कर लेते । उन्हींकी पंक्तियोंसे सूचित होता है कि उनके वैराग्य धारण करनेसे पहले—निरुपमा

सौन्दर्य-प्रतिमाके पास पहुँचनेसे पहले, संसारमें, असन्तोष और स्वार्थ यथेष्ट मात्रामें रह जाते हैं और उनके सुधारसे निराश अतएव विरक्त होकर ही मानों वे वैराग्यके पथपर आते हैं।

यह दोष नहीं है, किन्तु कलाकी एक उत्कृष्ट विभूति है। सम्पूर्ण असन्तोषोंको निर्वाणकी प्राप्ति न कराना, इसमें कलाके साथ-साथ दर्शनकी पुष्टि होती है। कला इसमें वह है जिसमें मनुष्यके मनका चित्र दिखलाया है और दर्शन वह जिसमें सनातन सत्यकी पुष्टि। रवीन्द्रनाथ यह तो कहते ही नहीं कि पीड़ितों और लांछितोंके साथ उनकी कोई सहानुभूति नहीं है। वे उनसे पूर्ण सहानुभूति रखते हैं, कितने ही असन्तोष निर्वाण या सन्तोषके रूपमें बदलते हैं--अनेकोंका सुधार हो जाता है। परन्तु स्मरण रहे इन अनेकोंका सुधार कुछ रवीन्द्रनाथकी इच्छासे नहीं होता,--रवीन्द्रनाथ तो सुधारकी योजनामात्र पेश करते हैं--सुधारके गीतमात्र गाते हैं, सुधरते हैं लोग अपनी इच्छासे। 'शत-शत असन्तोष महागीते लभिबे निर्वाण', महाकविको इस उक्तिमें शतशत (अनेक, किन्तु सब नहीं) असन्तोष जीवधारी बतलाये गये हैं। (Personified) और वे स्वयं ही निर्वाणकी प्राप्ति करते हैं, व्याकरणकी दृष्टिसे असन्तोष स्वयं कर्त्ता है और 'लभिबे'--'लाभ करेंगे' उसकी क्रिया, अतः मनुष्यरूप-धारी सैकड़ों असन्तोष स्वयं ही निर्वाण की प्राप्ति करते हैं, उनके इस कार्यमें रवीन्द्रनाथका गीत सहायकमात्र है। जिस तरह बिना कारणके कर्त्ताकी कार्य-सिद्धि नहीं होती है, उसी तरह, यहां बिना महाकविकी सहायताके असन्तोषोंको मुक्ति नहीं मिलती है। बस इतना ही श्रेय रवीन्द्र-नाथको दिया जाता है। और कार्यकर्त्ता अपनी इच्छासे ही करता है—असन्तोष अपनी इच्छासे ही मुक्त होते हैं। उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रतापर महाकवि अधिकार प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करते, इससे उन्होंने अपने विशाल शास्त्रज्ञानका परिचय दिया है, क्योंकि जिस तरह समष्टिगत आत्मा स्वतंत्र है, उसी तरह व्यक्तिगत आत्मा भी स्वतंत्र है, और व्यक्तिकी कुल क्रियाएं भी स्वतंत्र हैं। मनुष्य-मनकी प्रगतिके अनुकूल ही काव्य-चित्रमें

भाषा-तूलिकाको संचालित करके, महाकविने कलाको विकसित कर दिया है और बहुतोंकी मुक्ति बतलाकर और बहुतोंको उसी अवस्थामें छोड़ उसी असन्तोषमें डालकर आपने शास्त्रोंकी एक सच्ची व्याख्या-सी कर दी है। सृष्टिमें किसी बीजका नाश नहीं होता। यदि सम्पूर्ण असन्तोष संसारसे गया होता तब तो असन्तोषके बीजका नाश ही हो गया था। इससे कवितामें एक बहुत बड़ी असंगति आ जाती है। असन्तोषको संसारमें पूर्ववत् प्रतिष्ठित रखकर, संसारकी क्षुद्रताको छोड़ विश्व-ब्रह्माण्डकी सौंदर्य श्रीके पास कविका पहुँचना ही स्वाभाविक हुआ है। अब रही संसारसे उनके विमुख होनेकी बात, सो इसका वृत्तान्त उन्होंने स्वयं ही लिखा है। संसारमें वही रह सकता है, जो अस्वार्थपर है, असंकीर्ण है।

अपने संकल्प-समूहोंमें अशेषका चित्रण करते हुए महाकवि लिखते हैं—

"आबार आह्वान?
जतो किछु छिलो काज सांग तो करेछी आज
दीर्घ दिन मान।
जागाये माधवी वन चले गेछे बहु क्षण
प्रत्यूष नवीन!
प्रखर पिपासा हानी पुष्पेर शिशिर टानी
गेछे मध्य दिन।
माठेर पश्चिमे शेषे अपराह्ण म्लान हेसे
होलो अवसान,
पर पारे उत्तरिते पा दियेछि तरणीते,
आबार आह्वान?"

(फिर तुम मुझे बुलाते हो? जितने मेरे काम थे, उन सबको तो मैंने समाप्त कर डाला—इस दीर्घ दिनके साथ-साथ! नवीन प्रभात तो माधवी वनको जगाकर बहुत पहले ही चला गया है। फूलोंकी ओस चाटकर, उनमें प्रखर प्यास भरकर दुपहर भी चली गयी है! प्रान्तरके अन्तिम पश्चिमांशमें, मलिन भावसे हंसकर पिछला पहर भी डूब गया है!

इस समय, उस पार जानेके लिये मैंने नावपर पैर रक्खा ही और तुमने मुझे फिर बुलाया ?)

"नामे सन्ध्या तन्द्रालसा सोनार आंचल खसा
हाते दीप शिखा,
दिनेर कल्लोल पर टानी दिया झिल्ली स्वर
घन यवनिका !
ओपारेर कालो कुले काली घनाइया तुले
निशार कालिमा,
गाढ़ से तिमिरतले चक्षु कोथा डूबे चले
नाहीं पाय सीमा !
नयन पल्लव परे स्वप्न जड़ाइया धरे
थेमे जाय गान;
क्लान्ति टाने अङ्ग मम प्रियार मिनति सम
एखनो आह्वान ?"

(संध्या उतर रही है। नींदसे उसकी आंखें अलसाई हुई हैं, उसके सोनेका आंचल खुल-खुलकर गिर रहा है, उसके हाथमें प्रदीपकी शिखा कैसी शोभा दे रही है। झिल्लियोंके स्वरने दिनके कल्लोल पर एक घोर यवनिका खींच दी है ! रातक अंधरा उस पारके काले तटकी स्य हीको और गहरा कर देता है ! उस गहरे अंधेरेमें आंखें कहीं डूबती चली जाती है, इसका कुछ ओर-छोर नहीं मिलता ! आँखकी पलकोंको स्वप्न जकड़ लेता है, गाना भी रुक जाता है, प्रियाकी मिन्नतकी तरह क्लान्ति मेरे अङ्गोंको समेटती है, और तुम अब भी मुझे बुला रही हो ?)

"रे मोहिनी, रे निष्ठुरा ओरे रक्त-लोभातुरा
कठोर स्वामिनी,
दिन मोर दिनू तोरे शेषे निते चास हरे
आमार यामिनी,

जगते सबारी आछे संसार-सीमार काछे
कोनो खाने शेष,
केनो आसे मर्मच्छेदि, सकल समाप्ति भेदि,
तोमार आदेश ?
विश्व जोड़ा अन्धकार सकलेरी आपनार
एकेलार स्थान,
कोथा होते तारो माझे विद्युतेर मतो बाजे
तोमार आह्वान ?"

(अयि मोहिनि—निष्ठुर—खूनकी प्यासी—मेरी कठोर स्वामिनि ! अपना दिन तो मैंने तुझे दिया अब मेरी रात भी तू हर लेना चाहती है ? संसारमें, संसारकी सीमाके पास, किसी जगह, सबकी समाप्ति है, तो फिर मर्मको छेदकर सब समाप्तियोंका भेद करता हुआ तेरा आदेश मेरे पास क्यों आता है ? यह विश्व भरमें जुड़ा हुआ अंधेरा—यहां सबके लिये अकेली जगह अलग है, इस अंधेरेके भीतर भी बिजलीकी तरह तेरा आह्वान, कहांसे आकर झलक जाता है ?)

"दक्षिण समुद्र पारे, तोमार प्रासाद द्वारे
हे जाग्रत रानी,
बाजे ना कि सन्ध्या काले शान्त सुरे क्लान्त ताले
वैराग्येर वाणी ?
सेथाय कि मूक बने घुमाय ना पाखीगणे
आंधार शाखाय ?
तारागुली हर्म्य शिरे उठे ना कि धीरे धीरे
निःशब्द पाखाय ?
लता-वितानेर तले बिछाय ना पुष्प दले
निभृत शयान ?
हे अश्रान्त शान्तिहीन, शेष होये गेलो दिन
एखनो आह्वान ?"

(दक्षिण समुद्रके उस पार, तुम्हारे महलके दरवाजे, ऐ मेरी जागती हुई रानी ! क्या शामके वक्त शान्त स्वर और क्लान्त तालमें वैराग्यकी वाणी नहीं बजती ?——क्या वहांके मूक वनोंकी अंधेरी शाखाओंपर पक्षी सोते नहीं ? तारे, चुपके-चुपके महलके सीस पर धीरे-धीरे क्या वहां नहीं चढ़ते ?——लता वितानोंके नीचे, फल-दल, क्या वहां एकांत-शय्याकी रचना नहीं करते ? ऐ शान्तिहीन अभ्रान्त ! दिन समाप्त हो चुका और तुम अब भी मुझे बुलाते हो ?)

"रहिलो रहिलो तबे आमार आपन सबे,
आमार निराला,
मोर सन्ध्या दीवालोक, पथ-चावा दुटी चोख
चले गांथा माला।
खेया तरी जाक बोये गृह-फेरा लोक लोये
ओ पारेर ग्रामे,
तृतीयार क्षीण शशि धीरे पड़े जाक खसि
कुटिरेर बामे !
रात्रि मोर, शांति मोर, रहिल स्वप्नेर घोर
सुस्निग्ध निर्वाण,
आबार चलिनु फिरे बहि क्लान्त नत शिरे
तोमार आह्वान !
बलो तबे कि बाजाबो फूल दिये कि साजाबो
तव द्वारे आज,
रक्त दिये कि लिखिबो, प्राण दिये कि सिखिबो
कि करिबो काज ?
यदि आंखी पड़े ढुले, क्लान्त हस्त यदि भूले
पूर्व निपुणता,
वक्षे नाहीं पाई बल, चक्षे यदि आसे जल
वेधे जाय कथा,

चेयोना को घृणा भरे   करोना को अनादरे
मोर अपमान,
मने रेखो, हे निदये,   मेनेछिनु असमये
तोमार आह्वान !
सेवक आमार मत   रयेछे सहस्र शत
तोमार दुआरे
ताहारा पेयेछे छूटी,   घुमाये सकले जुटी
पथेर दुधारे ।
सुधू आमि तोरे सेवी   विदाय पाइते देवी
डाक क्षणे क्षणे;
बेछे निले आमारेई   दुःसह सौभाग्य सेई
वहि प्राणपणे !
सेई गर्वे जागि रब,   सारा रात्रि द्वारे तव
अनिद्र नयान,
सेई गर्वे कण्ठे मम   वहि वरमाल्य सम
तोमार आह्वान !"

(अगर इस तरह बुलाना ही तुम्हारा उद्देश्य है, तो यह लो, मेरा सब कुछ, मेरा निर्जन यहीं रहा; मेरा शामके दियेका उजाला, मेरी रास्तेपर लगी हुई दोनों आंखें, मेरी बड़े प्रयत्नकी गुंथी हुई माला, सब कुछ रहा । घर लौटे आदमियोंको लेकर, उसपारके गांवमें, खेवा जा रहा है—तो जाय, तीजका पतला चांद कुटियाके बाईं ओर—धीरे-धीरे टूटकर गिर रहा है—तो गिर जाय ! मेरी रात, मेरी शान्ति, स्वप्नकी गहराई और वह मेरा बहुत ही शीतल निर्वाण, सब कुछ रहा ! अब फिर मैं लौटा—थके और झुके हुए सीसपर तुम्हारा आह्वान लेकर । अच्छा तो अब बतलाओ, मैं क्या बजाऊँ ?—तुम्हारे द्वारपर आज फूलोंसे क्या सजाऊँ ?—अपना खून बहाकर उससे क्या लिखूं ?—अपने प्राणोंका उत्सर्ग करके उससे क्या सीखूं ? —क्या काम करूँ ? अगर आँखें नींदसे मुंद जायं, ढीला

हाथ अगर पहलेकी निपुणता भूल जाय, अगर हृदयको बल न मिले, आंखोंमें आंसू आ जायं, बात रुक जायँ, तो मेरी ओर घृणासे न ताकना —अनादरकी दृष्टिसे मेरा अपमान न करना; ऐ निर्दये ! याद रखना, तुम्हारे असमयके आह्वानको भी मैंने मान लिया था । मुझ से सेवक तुम्हारे द्वारपर हजारों हैं, उन्हें छुट्टी मिल गई है, वे सब एकत्र हो रास्तेके दोनों ओर सो रहे हैं । देवि, तुम्हारी सेवा करके केवल मुझे ही छुट्टी नहीं मिलती, सभी समय मेरी पुकार होती है; अनेक सेवकोंमें तुमने मुझे ही चुन लिया है, इस दुरूह सौभाग्यकी रक्षा मैं दिलोजान से कर रहा हूँ । इसी गर्वसे मैं तुम्हारे द्वार पर जागता रहूँगा, झपकियां भी न लूंगा, इसी गर्वसे मैं अपने कण्टमें वरमाल्यसा तुम्हारे आह्वानको धारण करूँगा ।)

"हबे, हबे, हबे जय हे देवी, करिने भय,
हबो आमी जयी !
तोमार आह्वान-वाणी सफल करिबो रानी,
हे महिमामयी ।
कांपिबे ना क्लान्त कर, भांगिबे ना कण्ठस्वर
टुटिबे ना वीणा
नवीन प्रभात लागी दीर्घ रात्रि रबो जागि
दीप निभिबे ना !
कर्मभार नवप्राते नव सेवकेर हाते
करि जाबो दान,
मोर शेष कंठ स्वरे जाइबो घोषणा करे
तोमार आह्वान !"

(हे देवि, मुझे भय नहीं है, मैं जानता हूँ, मेरी विजय होगी । हे रानी, हे महिमामयी, तुम्हारी आह्वान-वाणी को मैं सफल करूँगा । थका हुआ भी, मेरा हाथ न कांपेगा, मेरा गला न वैठ जायगा, मेरी वीणा न टूटेगी; नवीन प्रभातके लिये तमाम रात मैं जागता रहूँगा, दिया भी न गुल होगा नये प्रभातके आनेपर कार्यभार तुम्हारे किसी नये सेवकको सौंप

जाऊँगा, अपने अन्तिम कण्ठस्वरमें मैं तुम्हारे आह्वानकी घोषणा करके जाऊँगा।)

किस संकल्पकी भीड़ोंसे, हृदयकी किस वासनाके मधुर सम पर ठहर-ठहर कर, 'अशेष' की यह रागिनी महाकवि रवीन्द्रनाथ अलाप रहे हैं, इसका पता लगाना बड़ा कठिन काम है। साधारण—मन इस विचित्र ढङ्गकी वर्णनाको पढ़कर, जिसके नामके साथ सूरतका जरा भी मेल नहीं पाया जाता, स्वभावतः चौंककर थोड़ी देरके लिये निराधारसा हो जाता है—अर्थमें डुबकी लगानेके लिये कोशिश तो करता है, पर पानी पर उसे बर्फीली चट्टानका एक हास्यास्पद भ्रम हो जाता है। नादान बालककी प्रश्नभरी मौन दृष्टिसे इन पंक्तियोंकी ओर देखकर ही रह जाता है, जटिल अर्थ-ग्रन्थिके सुलझानेका साहस, भाषाके सुदृढ़ दुर्गको देखकर, पस्त हो जाता है।

परन्तु परिस्थिति वास्तवमें ऐसी जटिल नहीं। पंचभूतोंमें बन्द आत्मा-की तरह वह महान होनेपर भी दुर्बोध नहीं। भाषाके पींजड़ेमें भाव-शेर वन्द है,—बड़ा है—प्रखर-नख है, पर कुछ कर नहीं सकता। थोड़ी देर पींजड़ेके पास खड़े रहिये, धैर्यके साथ; उसके सब स्वभावोंसे परिचित हो जाइयेगा, गर्जना भी सुननेको मिल जायगी, और उसकी गर्जनामें, यदि आप समझदार हैं, तो उसका भाव भी ताड़ जायंगे कि वह क्या चाहता है।

महाकविकी इस कविताका शीर्षक है 'अशेष', परन्तु अशेषताकी साफ छाप कविताकी पंक्तियोंमें कहीं पड़ने नहीं पाई, अशेषता, जीवन के अवश्यम्भावी सत्य किन्तु अज्ञात भविष्यकी तरह, भाषाकी गोदमें बिल्कुल छिप गई है। यह 'अशेष' क्या है?—वही 'आह्वान' जिसका उल्लेख प्रत्येक भावके अन्तमें होता गया है। कवि सूत्रपातमें ही कहता है—"सब काम समाप्त हो चुके,—प्रत्यूष माधवी-वनको जगाकर चला गया—फूलोंकी ओस पीकर, उनकी प्यास बढ़ाकर, दुपहर भी चली गई, पिछला पहर भी पच्छिमके छोरमें ढक गया, सबका अन्त हो गया; पर तुम्हारा

आह्वान अब भी है--उसकी समाप्ति नहीं हुई--तुम मुझे अब भी बुला रही हो ।" यही 'अशेष' है ।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि यह आह्वान 'अशेष' है--माना, परन्तु यह है किसका आह्वान ? यह एक कल्पनामात्र है या इसमें कुछ वास्तविकता भी है ? यदि कल्पना है तो इसकी सार्थकता किस तरह सिद्ध होती है ? यदि वास्तविकता है तो यह क्या है ?

हम इसे कल्पना भी कहेंगे और इसे वास्तविकताका रूप भी देंगे--वास्तविकतासे हमारा मतलब सत्यसे है । पहले तो हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कल्पना कभी निर्मूल नहीं होती--उसमें भी सत्यकी झलक रहती है, अथवा यों कहिये कि कल्पना स्वयं सत्य है । आप कल्पनाका विश्लेषण कीजिये । वह है क्या चीज ? एक बहुत सीधा उदाहरण हमारे सामने यह संसार है । शास्त्र कहते हैं, यह कल्पना है । परन्तु क्या कोई इससे संसारको मिथ्या मान लेता है ?--वह उसे सत्य ही देखता है । दूसरे वह अस्तित्वशाली भी है, क्या कोई कह सकता है कि संसार नहीं है ? भारतका एक दर्शन संसारका अस्तित्व नहीं मानता । परन्तु यह कब ? जब वह ब्रह्म में अवस्थित है । जब ब्रह्ममें है तब उसके निकट संसारके ये चित्र भी नहीं हैं। परन्तु संसारियोंके लिये संसार कभी असत्य नहीं कहा जा सकता । इसी तरह कल्पनाको भी लोग निर्मूल बतलाते हैं, परन्तु संसारकी तरह कल्पना भी साधारण है, वह कभी निर्मूल नहीं कही जा सकती । स्वर्ग और पातालको कवियोंने अपनी कल्पनाके बलपर एक करके दिखलानेकी चेष्टा की है । उनकी वह कल्पना भी बे-सिर-पैरकी नहीं हो पाई । यदि उस कल्पनाको वे पूरी न उतार दें तो फिर वे कवि कैसे ? एक जगह कविवर रवीन्द्रनाथने लिखा है--रात अपने अंधेरे पंख फैलाये हुए--आ रही है । उनकी इस कल्पनाको झूठ बतलानेका अधिकार इस युक्तिसे होता है--रातके न पंख होते हैं और न वह उन्हें फैलाकर कभी आती है, इस तरहकी युक्तिसे कल्पनाको झूठ बतलाने वाले भ्रममें हैं । इसी कल्पना-को सत्य हम इस युक्तिसे कहेंगे--अंधेरे (काले) पंख फैलाकर आना

स्वाभाविक है और यह स्वाभाविकता पक्षीके लिये है, रातके पंख भले ही न हों, परन्तु यदि रातको पक्षीकी उपमा देकर कवि उसे पङ्ख फैलाकर आनेके लिये कहता तो यह कोई दोष न था । उपमान-उपमेय साहित्यका एक अङ्ग है, यह सभी साहित्यिक मानते हैं । 'रात, अंधेरे पङ्ख फैलाकर आ रही है', यह वाक्य यदि यों कहा जाता—'रात्रि—विहगी अपने अंधकार पङ्खोंको फैलाकर आ रही है', तो इसमें किसीको दोष दिखानेका साहस न होता । क्योंकि पंख फैलाना विहगीके लिये ही सिद्ध होता है, रातके हिस्सेमें रह जाता बस अन्धकार, परन्तु इस युगकी नवीनता संस्कृतके प्राचीन उपमान-उपमेयके बन्धनोंसे अलग हो गई है । उसे अब उस तरहकी वणना पसन्द नहीं । अस्तु इस कल्पनामें हमें असत्यकी छाया कहीं नहीं मिलती, और इसी युक्तिसे सिद्ध होता है कि कल्पना कभी—असत्य नहीं होती, एक कल्पनामें चाहे दूसरी कल्पना भले ही भिड़ा दी जाय और इस तरहके कार्यों में जो जितना कुशल है, साहित्यके मैदानमें वह उतना ही बड़ा महारथी । अतएव हम कहेंगे, महाकविके 'अशेष'में कल्पना भी है और सत्य भी ।

अब प्रथम प्रश्नके साथ हम महाकविकी सुलझी हुई भी जटिल-सी जान पड़नेवाली ग्रन्थियोंको खोलनेकी चेष्टा करेंगे । 'आह्वान' अशेष है, यह हम बतला चुके हैं । यह बतलाना है कि यह किसका आह्वान है । हम पुनरुक्ति न करेंगे । आप अशेषके प्रथम दोनों पैराग्राफ पढ़ जाइये, देखिये, पहले संध्याका वर्णन है । फिर रात होती है । दिन भर काम करके थके हुए कविकी पुतलियोंसे स्वप्न आकर लिपट जाते हैं—उसका संगीत रुक जाता है—प्रियाकी आरजूमें अपनी ओर खींच लेनेकी जो एक विचित्र शक्ति होती है, वही उस समय क्लान्तिको प्राप्त है । वह भी कुल अंग समेट रही है, ऐसे समय कविको फिर पुकार सुन पड़ती है, वह जरा सुखकी नींद नहीं सोने पाता । तभी तीसरे पैराग्राफ के आरम्भमें मोहिनी कहकर भी अपनी स्वामिनीको वह निष्ठुर बतलाता है । मोहिनी इसलिये कि कवि उसपर मुग्ध है; निष्ठुर इसलिये कि कविके विश्राम के समय

भी वह उसे पुकारती है । तभी कवि कहता है, मैंने अपना दिन तो तेरी सेवामें पार कर दिया अब मेरी रात भी तू हर लेना चाहती है। कितनी स्वाभाविक उक्ति है एक विश्रामप्रार्थी कविकी ।

यह पुकार उसकी है जिसकी सेवामें कवि दिन भर रहा था । कवि अपनी कविताको छोड़कर किसकी सेवा करेंगे ? अतएव यह पुकार कविता-कामिनी की है। विश्रामके समयमें भी वह कविको छुट्टी नहीं देती। हृदयमें उसकी पुकार खलबली मचा रही है—भावके अनर्गल स्रोत उमड़ रहे हैं ।

जब उस क्लान्त अवस्थामें भी कवि अपनेको संभाल नहीं सका तब उसके मुंहसे यह उक्ति निकली—"यह लो, मेरा सब कुछ रहा, मैं तुम्हारी सेवाके लिये (कविता लिखनेके लिये) तैयार होता हूँ । परन्तु यदि नींदसे पलकें मुंद जायं—यदि थका हुआ इसलिये ढीला हाथ पहलेवाली निपुणता (पहलेकी तरह कविता करनेकी कुशलता) भूल जाय—आंखोंमें आंसू भर आये तो ऐ निर्दये, मेरा अपमान न करना, बल्कि यह याद करना कि मैंने असमयमें भी तुम्हारा आह्वान स्वीकार कर लिया था ।" यही इस कविता-की बुनियाद है, परन्तु कितनी मजबूत है, पाठक स्वयं पढ़कर देखें । इस कविताके सम्बन्धमें हम कह सकते हैं कि यह एक वह कृति है जो साहित्य-को अमर कर रही है ।

संकल्प-समूहमें 'भैरवी गान' पर महाकविकी एक कविता है । यह भी साहित्यकी एक अमूल्य सम्पत्ति है । महाकवि कहते हैं—

"ओगो के तुमि बसिया उदास मूरति
विषाद-शान्त शोभाते !
ओई भैरवी आर गेयोनाको एई
प्रभाते !
मोर गृहछाड़ा एई पथिक पराण
तरुण हृदय लोभाते ।"

(विषादके द्वारा इस शांत हुई शोभामें वैठी ओ उदास मूर्ति तुम कौन हो ? घरसे निकले हुए मेरे इन पथिक प्राणोंके तरुण हृदयको लुभाने के लिये इस प्रभातमें वह भैरवी अव न गाओ ।)

"ओई मन-उदासीन, ओई आशाहीन
ओई भाषा-हीन काकली
देय व्याकुल परशे सकल जीवन
बिकली ।
देय चरणे बांधिया ेम-बाहु घेरा
अश्रु - कोमल शिकली ।
हाय मिछे म ` हये जीवनेर व्रत
मिछे मने हय सकली ।"

(वह मनको उदास कर देनेवाली,—बिना आशाकी, बिना भाषाकी, तान, अपने व्याकुल स्पर्शके साथ मेरे सम्पूर्ण जीवनको विकल कर देती है । वह मेरे पैरोंमें प्रेमकी बाहोंसे घिरी आंसुओंसे कोमल जंजीर डाल देती है। हाय ! उस समय तो फिर जीवनके सम्सूर्ण व्रत झूठे जान पड़ते हैं—सब मिथ्या प्रतीत होते हैं ।)

कहीं कुछ नहीं है, भैरवी रागिनीकी वर्णना है । उसकी बिना भाषाकी एक तान यह हालत कर देती है। घर छोड़कर वाहर आये हुए कविको वह अपना विकल स्पर्श करा,—उसके कानोंमें पैठकर अपनी तान—मुरकियोंके साथ उसके हृदयमें भी मरोर पैदा कर देती है । इतना ही नहीं, वह कविको उसके घरकी भी याद दिला देती है । घरमें जिसे अकेली छोड़कर वह बाहर निकल आया है, उसे भी उसके ध्यान-नेत्रोंके सामने लाकर छोड़ जाती है और कवि देखता है कि उसकी प्रियतमा उसके पैरोंमें आंसुओंसे कोमल प्रेम-बांहोंकी जंजीर डाल रही है । बस चाल रुक जाती है । फिर वह उसे छोड़कर बाहर जानेकी इच्छा नहीं करता । फिर तो जिन व्रतोंकी पूर्तिके लिये वह बाहर निकला था, वे सब उसकी प्रेम-प्रतिमाके सामने झठे जान

पड़ते हैं । यह हालत भैरवीकी एक तानसे होती है, देखा आपने ? इसी भावको पुष्ट करते हुए रवीन्द्रनाथ आगे लिखते हैं––

"जारे फेलिया एसेछि, मने करि, तारे
फिरे देखे आसि शेषवार;
ओई कांदिछे से जेथो एलाए आकुल
केशभार !
जारा गृह-छाये बसि सजल-नयन
मुख मने पड़े से सबार ।"

(जी चाहता है, जिसे छोड़कर चला आया हूँ, उसको एकबार और, और इस अंतिम बारके लिये, क्यों न चलकर देख लूं ? जी कहता है, वह रो रही है––उसकी केश राशि खुलकर बिखर गई है । घरकी छायामें बैठे हुए भी सजल-नयन मेरे घरवालोंका मुंह मुझे याद आ रहा है ।)

"सेई सारा दिन मान सुनिभृत छाया
तरु-मर्मर-पवने,
सेई मुकुल - आकुल - बकुल - कुञ्ज
भवने,
सेई कुहु - कुहुरित विरह रोदन
थेके थेके पशे श्रवणे !"

(दिनभरकी एकान्त छायावाली, पातोंको हिलाती हुई हवामें मुकुलोंके भारसे व्याकुल हुए बकुल-कुंजोंके कुटीरमें गूंजता हुआ विरह-रोदन रह-रहकर मेरे कानोंमें पैठ रहा है ।)

कवि अपनी प्रियतमा पत्नीके रोदनकी व्याख्या कर रहा है, उसका स्थान निर्द्देश कर रहा है । उसे याद आता है, उसकी पत्नी इस समय उस फुलवाड़ीमें है जहां दिनभर छाया रहती है । और हवा पातोंको झुला जाया करती है, जहां मुकुलित मौलश्रीके अनेक कुंज हैं और बीचमें बैठनेका एक कुटीर । वहीं उसकी प्रिया उसकी याद कर-करके आंसुओंसे आंचल भिगो रही है । कोयलकी कुहूके साथ मिला हुआ उसकी प्रियाका

विरह-रोदन उसके कानोंमें प्रवेश कर रहा है। यह इतना उत्पात, पाठक याद रखें, भैरवीकी एक जरा-सी तान सुनकर होता है।

× × × ×

सदा करुण कण्ठे कांदिया गाहिबो,—
"होलो ना किछुई हबेना,
एई मायामय भवे चिर दिन किछु
र'बे ना।
केह जीवनेर जतो गुरुभार व्रत
धूलि होते तुलि लबे ना।
एई संशय माझे कोन पथे जाई,
कारतरे मरी खाटिया!
आमि कार पिछे दुखे मरितेछि, बुक
फाटिया!
भवे सत्य मिथ्या के करेछे भाग,
के रेखेछे मत आंटिया!
यदि काज निते हय, कतो काज आछे
एका कि पारिबो करिते!
कांदे शिशिर-विन्दु जगतेर तृषा
हरिते!
केन आकुल सागरे जीवन सँपिबो
एकेला जीर्ण तरीते!
शेषे देखिबो पड़िल सुख-यौवन
फुलेर मतन खसिया
हाय वसन्त-वायु मिछे चले गेलो
श्वसिया!
सेइ जेखाने जगत छिलो एक काले
सेई खाने आछे बोसिया!"

(करुण-कण्ठसे सदा यह रोकर गाऊँगा—"कुछ न हुआ ! कुछ होगा भी नहीं !—न इस मायामय संसारमें चिरकाल कुछ रहेगा ही ! जीवनके जितने गुरुभार हैं, उन्हें कोई धूलसे उठा भी न लेगा। इस संशयमें मैं किस पथपर जाऊँ ? —मैं इतनी मेहनत भी करूँ तो किसके लिये ? वृथा दुःखसे मेरी छाती फटी जा रही है ! किसका दुःख ! संसारमें सत्य और मिथ्याका भाग किसीने किया भी ?—किसने मजबूतीसे अपना मत पकड़ रक्खा है ? अगर काम ही मुझे लेना है, तो काम बहुत-से हैं; मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ? मेरा यह प्रयत्न तो वैसा ही है जैसा संसारको प्यासा देखकर ओसकी एक बूंदका रोना ! क्यों मैं अकेला इस अछोर समुद्रकी टूटी नावपर चढ़कर जान दूं ? परन्तु अन्तमें हाय ! अन्तमें देखूंगा, यह सुखका यौवन फूल-सा झर गया है । और वसन्तकी हवा वृथा ही सांस लेकर चली जा रही है ! इतने पर भी देखूंगा, यह संसार एक समय जहां था, वहीं वना हुआ है ।"

ये कविके संकल्प-विकल्प हैं । वह नवीन व्रतकी साधनाके लिये निकला है, परन्तु अव उसके पैर आगे नहीं बढ़ते । प्रियाका मुंह वह भूल नहीं सकता, यही उसकी कमजोरी है और संकल्पकी प्रतिकूलता पर विचार करता हुआ वह कहता है, मेरी आकांक्षा वैसी ही है जैसी ओसके एक बूंदकी, संसारकी प्यास बुझानेके लिये । वह कहता है, अगर मैं लौट जाऊँ तो देखूंगा, क्रमशः मेरा यौवन मलिन होकर वार्धक्यकी जीर्ण भूमिपर फूल-सा झरकर गिर गया है । उससे कोई काम नहीं हुआ । वसन्तकी हवा वृन्तको वृथा ही हिला-झुलाकर चली जाती है । और संसार न एक पग वढ़ा न एक पग हटा । इस उक्तिमें कविका यही भाव है कि मनुष्य चाहे कुछ करे, संसारका आसन इससे नहीं डिगता, वह अपने ही स्थानपर अचल भावसे डटा रहता है, उसके पाप और पुण्य, सुख और दुःख, भाव और अभाव पूर्ववत् बने ही रहते हैं ।

शिशु-सम्बान्धिनी-रचना

जो कवि और महाकवि होते हैं वे प्रकृतिके हरेक कमरेमें प्रवेश करने-का जन्मसिद्ध अधिकार लेकर आते हैं । वे प्रकृतिकी प्रत्येक भूमिपर—जनाना महलमें भी—बेधड़क चले जाते हैं । प्रकृतिको उनपर अविश्वास नहीं । वह उन्हें अपना बहुत ही सच्चरित्र और सुशील बच्चा समझती है, उनसे उसे किसी अनर्थका भय नहीं । प्रकृतिके जिस यथार्थ इतिहासके लिखनेका अधिकार लेकर वे आते हैं, उसे वह उनसे छिपा भी नहीं सकती। कारण, वह जानती है, इस पर्दा-सिस्टमका परिणाम उसके लिये अच्छा न होगा । क्योंकि उस तरह संसारसे उसकी पूजा उठ जायगी । यही कारण है कि जड़ और चेतन, सबकी प्रकृति कविको अपना स्वरूप दिखा देती है । वे दर्पण हैं और प्रकृतिका प्रत्येक विषय उनपर पड़नेवाला सच्चा विम्ब है ।

बच्चोंके लिये, बच्चों ही के स्वभावकी बहुत-सी कविताएं महाकविने लिखी हैं । उनकी ये कविताएं पढ़कर बच्चों ही की तरह हृदयमें एक अपार आनन्द उमड़ चलता है । दूसरी बात यह कि भाषाका संगठन भी महाकविने वैसा ही किया है जैसा अक्सर बच्चोंकी भाषामें पाया जाता है । इन कविताओंमें एक दूसरे ढंगकी किन्तु बहुत ही सुहावनी और मन-मोहिनी प्रतिभाका विकास देख पड़ता है । इसकी भाषाकी तो जितनी भी प्रशंसा हो थोड़ी है । जान पड़ता है, एक बच्चा बोल रहा है । देखिये विषय है, 'ज्योतिष-शास्त्र', परन्तु यह पण्डितोंका 'ज्योतिष-शास्त्र' नहीं, यह बच्चोंकी ज्योति है । महाकवि लिखते हैं—

"आमी सुधू बोसेछिलाम—
कदम गाछेर डाले ।
पूर्णिमा-चांद आट्का पड़े

जखन सन्ध्याकाले
तखन कि केउ तारे
धरे आनते पारे ?'
सुने दादा हेसे केनो
बोलले आमाय 'खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका !
चाँद जे थाके अनेक दूरे
केमन करे छुंइ !'
आमी बोलि 'दादा तुमी
जानो ना किच्छुइ !
मा आमादेर हासे जखन
ओइ जानलार फांके
तखन तुमि बोलबे कि मा
अनेक दूरे थाके ?'
तबू दादा बले आमाय खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका।

बच्चा अपनी मां से कहता है—

(मैंने बस इतना ही कहा था कि जब पूनोंका चांद शाम को कदम्बकी डालीतर अटक जाय तब भला कोई उसे पकड़कर ले आवे। मेरी वातको सुनकर दादा (वड़े भाई) ने हंसते हुए मुझसे कहा—"लल्ला, तेरे जैसा वेवकूफ तो मैंने नहीं देखा, चांद कुछ यहां थोड़े ही रहता है जो मैं उसे छू लूं। वह तो वहुत दूर रहता है।" दादा की बात सुनकर मैंने कहा, "दादा, तुम कुछ नहीं जानते। अच्छा उस झरोखे के दराजमें जब हमलोग यहां से मांको हंसते हुए देखते हैं तब क्या तुम कहोगे कि मां वहुत दूर रहती है?" मेरे इस तरह कहने पर भी दादाने मुझसे कहा, 'लल्ला, तेरे जैसा वेवकूफ तो मैंने नहीं देखा।')

दादा वले, "पावी कोथाय
अत बड़ फांद ?"
आमी बोली, "केन दादा
ओइ तो छोटो चाँद,
दुटी मुठोय ओरे
आनते पारी धोरे !"
सुने दादा हेसे केनो
बोलले आमाय, "खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका !
चाँद यदि एइ काछे आसतो
देखते कतो बड़ो !"
आमी बोली, 'कि तुमी छाई
इस्कूले जे पड़ो ।
मा आमादेर चूमो खेते
माथा करे नीचू
तखन कि मार मुखटी देखाय
मस्त बड़ो किछू ?"
तबू दादा वले आमाय, "खोका,
तोर मतो आर देखी नाइतो बोका !'

(दादाने कहा, 'इतना बड़ा फन्दा तू कहां से लायेगा ?' तब मैंने कहा, 'क्यों दादा, वह देखो न, छोटा सा तो है चांद, दोनों मुट्ठियोंमें भरकर, कहो तो उसे पकड़ लाऊँ ।' मेरी बात सुनकर दादाने हंसते हुए कहा, 'लल्ला, तेरी तरहका बेवकूफ तो मैंने नहीं देखा । यह चांद अगर पास आ जाय तो तू देखता कि यह कितना बड़ा है ।' मैंने कहा, 'क्या तुम खाक स्कूल जाते हो ? जब हमारी मां सिर झुकाकर हम लोगोंको चूम लेती हैं तब क्या मांका मुंह बहुत बड़ा हो जाता है ?' मेरे इस तरहके कहने पर भी, दादाने कहा, 'लल्ला, तेरी तरह बेवकूफ तो मैंने नहीं देखा ।')

महाकविकी इस कविताका मर्म पाठक समझ गये होंगे । इसमें बच्चेके भोलेपनको किस तरह कविवरकी भोली तूलिका अंकित करती है, पाठकोंने देखा होगा । कविता लिखते हुए महाकवि भी बालक हो गये हैं, भाव बालक, वर्णन बालक, महाकवि बालक; सहृदय पाठक भी पढ़ते हुए बालपनकी सुखद स्मृतिमें पहुँचकर बालक ही हो जाते हैं । चाँदको पेड़की ओटमें उगा हुआ देख, बालक उसे कदम्बकी डाल पर अटका हुआ कहता है । पेड़ोंके छेदसे छनकर आती हुई चाँदनी जब दर्शकपर अपनी मोहिनी डाल, उसे चाँदके पास आकर्षित कर ले जाती है, तब वह देखता है, चाँद खुद किसी मोहिनो शक्तिसे खिंचा हुआ अपने सुदूर आकाशको छोड़ पेड़ोंकी डालीसे आकर लिपट गया है, जैसे थककर और चलना न चाहता हो-- जड़ पड़ोंसे लिपटकर अपनी सहायताकी प्रार्थना करता हो--विश्व-विधानसे जान बचानेके लिये । कदम्बकी डालीपर चाँदको अटक गया देख बच्चेने अपने बड़े भाईसे उसे ले आनेके लिये कहा था । इसपर उसके भाईने उसे बेवकूफ कहा । इसी बातका उसे रंज है । वह भाईकी बातपर विश्वास नहीं कर सका, और करना भी नहीं चाहिये था, कर लेता तो बच्चेकी प्रकृति पर प्रौढ़ताकी छाप जो लग जाती । परन्तु उसे विश्वास नहीं हुआ, इस विषयको किसी नीरस उक्ति द्वारा महाकविने समाप्त नहीं किया, वे बच्चेकी पुरजोर युक्ति भी उसीसे कहलाते हैं; वह कहता है, जब हमारी मां झरोखेसे निहारती है तब क्या वह इतनी दूर रहता है कि हम उसके पास जा नहीं सकते ? यहां मधुर सौंदर्यके साथ कवित्व-कलाके एक बहुत ही कोमल दलको महाकविने खोलकर खिला दिया है । लघु-हस्त रवीन्द्रनाथ ही इस कोमल पङ्खड़ीको खोल सकते थे, दूसरेके स्पर्श मात्रसे दलमें दाग लग जाता, फिर वह इस तरहसे खुल न सकता था । एक तो चाँदके साथ मुखकी उपमा और वह भी बच्चेके अज्ञात भावसे, बच्चेको यह साहित्यिक तौल क्या मालूम, वह तो स्वभावतः अपनी मांको याद करता है और जिस तरह झरोखे पर बैठी हुई, अपनी मांके पास वह अनायास ही जीने पर चढ़कर चला जा सकता है, उसी तरह अपने

भाईके लिये भी, पेड़ पर चढ़कर चाँदको पकड़ लाना, वह सम्भव सिद्ध करता है। जब उसका भाई कहता है, चाँद बहुत बड़ा है, तब भी उसे विश्वास नहीं होता, वह कहता है, जब हमारी मां हमें चमती है, उसका मुँह हमारे मुंह पर रख जाता है, तब क्या वह बहुत बड़ा हो जाता है ? जब मांका मुंह पास आनेपर नहीं बड़ा होता तो चाँद कैसे बड़ा हो जायगा ? देखिये कितनी मजबूत युक्ति है ? कितना भोलापन है ! महाकविकी भाषाकी तो कुछ बात ही न पूछिये । छोटे-छोटे बच्चे जिस भाषामें बोलते-बतलाते हैं, बिल्कुल वही भाषा, मधुर और खूब मँजी हुई, बच्चोंकी; पर कवित्व-रससे सराबोर।

एक कविता है 'समालोचक'। इसमें बच्चा अपने पिताकी समालोचना करता है:—

"बाबा नाकी बइ लेखे सब निजे !
किच्छुइ बोझा जायना लिखेन किजे !
से दिन पड़े सुनाच्छिलेन तोरे
बुझेछिली बल मां सत्यि कोरे !
एमन लेखाय तबे
बल दिखी की हबे ?
तोर मुखे मां जेमन कथा सुनी
तेमन केनो लेखेन नाको उनी ?
ठाकुरमा की बाबाके कक्खनो
राजार कथा सुनायनी को कोनो ?
से सब कथागुली
गेछे बुझी भूलि ?
स्नान करते बेला होलो देखे
तुमी केबल जाओ मां डेके डेके,—
खाबार निये तुमिइ बोसे थाको,
से कथा ताँर मनेइ थाके नाको !

करेन सारा बेला

लेखा लेखा खेला !

बाबार घरे आमी खेलते गेले

तुमी आमाय बलो दुष्टू छेले !

बको आमाय गोल करले परे--

"देखचिस ने लिखछे बाबा घरे ?"

बल तो, सत्ति बल,

लिखे की हय फल !

आमी जखन बाबार खाता टेने

लिखीं बोसें दोआत कलम एने--

क ख ग घ ङ य र ल व

आमार बेला केन राग करो ?

बाबा जखन लेखे

कथा कवना देखे !

बड़ बड़ रुल काटा कागज

नष्ट बाबा करेन ना कि रोज ?

आमी यदि नौका करते चाई

अमनी बलो--नष्ट करते नाई !

सादा कागज, कालो

करले बुझी भालो ?"

बच्चा अपनी मांसे कहता है:--

(क्यों मां ! बाबूजी पुस्तकें लिखते हैं--न ? परन्तु क्या लिखते हैं कुछ खाक समझमें नहीं आता। अच्छा उस दिन तो तुझे पढ़कर सुना रहे थे, क्या तू कुछ समझती थी, मां सच-सच बता। अगर तू नहीं समझती तो इस तरहके लिखनेसे भला होगा क्या ?

मां, तेरे मुंहसे कैसी बातें सुनता हूँ, उस तरहकी बातें बाबूजी क्यों

नहीं लिखते ? क्या बूढ़ी दादीने बाबूजीको राजाकी बातें कभी नहीं सुनाईं ? वे सब बातें बाबूजी अब भूल गये हैं—क्या ?

मां, उन्हें नहानेकी देर करते देख जब तू उन्हें पुकार-पुकारकर चली आती है, और खाना लिये तू बैठी रहती है, तब क्या उन्हें इस बातकी याद भी नहीं होती ?—दिनभर लिख-लिखकर खेल किया करते हैं !

जब मैं कभी बाबूजीके कमरेमें खेलनेके लिये जाता हूँ, तब तू मुझे कहती है—क्यों रे तू बड़ा बदमाश है ! चिल्लानेपर तू मुझे बकती है । कहती है, तेरे बाबूजी लिख रहे हैं । अच्छा मां, सच कहो, लिखनेसे फल क्या होता है ?

जब मैं बाबूजीका खाता खींचकर दावात-कलम ले, क ख ग घ ङ, य र ल व लिखता हूँ, तब मेरी बारी पर तू क्यों गुस्सा होती हैं ? और जब बाबूजी लिखते हैं तब तू कुछ नहीं बोलती !

लकीरवाले बड़े-बड़े कागज क्या बाबूजी नहीं बरबाद करते ? जब जब मैं नाव बनानेके लिये मांगता हूँ तब तू कहती है, कागज बरबाद न करना चाहिये । क्यों मां, सफेद कागज को काला करना ही अच्छा होता है—क्या ?)

यह बच्चेकी समालोचना है । युक्ति कितनी मजबूत है ! बच्चेकी स्वाभाविकता कहीं भी नष्ट नहीं हो पाई । बच्चा हो या वृद्ध, वह अपनी बुद्धिके माप-दण्डसे संसार को नापता है, यही मनुष्यका स्वभाव है । मनुष्यमात्र इस स्वभावके वश है । इस स्वभावको कोई छोड़ भी नहीं सकता । अगर स्वभाव छट जाय, प्रकृतिसे सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाय, तब यह संसार भी नष्ट हो जाय । भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंका घात-प्रतिघात ही संसार है—यही उसकी लीला । अस्तु, प्रकृति या स्वभावको मनुष्य छोड़ नहीं सकता । हम देखते हैं, हमारे देश में एक विषयपर अनेक प्रकार की समालोचनाएं हुआ करती हैं, एक विद्वानके मतसे दूसरे विद्वानका मत नहीं मिलता । यह क्यों ? इसका कारण बस यही कि उनके स्वभाव जुदा-जुदा हैं—उनकी प्रकृति एक नहीं । मनका एक दूसरा स्वभाव यह भी है कि वह जो

कुछ चाहता है, जिसे पसन्द करता है उसीके अनुकूल युक्तियां जोड़ता जाता है। बच्चा भी अपनी समालोचना में अपनेको अपने बाबूजीसे कहीं अधिक बुद्धिमान समझता है, परन्तु उसकी बातोंमें प्रवीण समालोचकोंकी रूढ़ता नहीं है, सरलतापूर्वक वह अपनी मांसे अपने बाबूजीकी मूर्खताकी जाँच कर रहा है । अपने बाबूजीका लिखना वह खुद नहीं समझ सका, अतएव उसे विश्वास नहीं कि उस भाषाको उसकी मां समझती होगी । महाकविने बच्चेके स्वभावका बड़ा ही सुन्दर चित्रांकण किया है । बच्चेकी दृष्टिमें संसार खिलवाड़ है, उसके बाबूजी भी लिख-लिखकर खिलवाड़ किया किया करते हैं । उसे एक बातका बड़ा दु:ख है । वह जब अपने बाबजीकी दावात और कलम लेकर ककहरा गोदने लगता है, तब उसकी मां उसे तो डांटती है; पर उसके बाबूजी से कुछ नहीं बोलती जो दिनभर बैठे हुए खिलवाड़ किया करते हैं । ये कविताएं निरी सीधी भाषामें लिखी हुई होने पर भी उच्च कोटिकी हैं । मनुष्यके मनमें पैठना जितना सरल है बालक की प्रकृतिको परखना उतना ही कठिन ।

अब बच्चेका विज्ञान सुनिये । एक कविता 'वैज्ञानिक' नामकी है । बच्चा अपनी मां से कहता है—

जेमनी मागो गुरु गुरु
मेघेर पेले साड़ा,
अमनी एल आषाढ़ मासे
बृष्टि जलेर धारा ।
पूबे हावा माठ पेरिये
जेमनी पड़लो आसी
बांस] बागाने सों-सों कोरे
बाजिये दिये बांसी—
अमनी देख मा चेये
सकल माटी छेये
कोथा थेके उठलो जे फूल

एतो राशी राशी !
तुइ जे भाविस ओरा केवल
अमनी जेनो फुल,
आमार मने हय मा तोदेर
सेटा भारी भूल !
ओरा सब इस्कूलेर छेले
पुंथी पत्र कांखे,
माटीर नीचे ओरा ओदेर
पाठशालाते थाके ।
ओरा पड़ा करे
दुआर-बन्द घरे,
खेलते चाइले गुरु मशाय
दांड़ करिये राखे ।
बोशेक जैष्टि मासके ओरा
दुपुर बेला कय
आषाढ़ होले आँधार कोरे
विकेल ओदेर हय ।
डाल पालारा शब्द करे
घन बनेर माझे
मेघेर डाके तखन ओदेर
साढ़े चारटे बाजे ।
ओमनी छुटी पेये
आसे सबाइ धेये,
जानिस मागो ओदेर जेन
आकाशेतेइ बाड़ी
रात्रे जेथाय तारा गुली
दांड़ाय सारी सारी

देखिसने मा बागान छेये
व्यस्त ओरा कतो
बुझते पारिस केनो ओदेर
ताड़ा ताड़ि अतो ?
जानिस कि कार काछे
हाथ बाड़िये आछे
मा कि ओदेर नेइको भाविस
आमार मायेर मतो ?

(मां ! ज्यों ही गरगराहटसे मेघोंकी आहट पाई जाने लगी, ज्यों ही आषाढ़की धारा झरने लगी, ज्यों ही पूरबकी हवा मैदान पार करके बांसके झाड़ोंमें बांसुरी फूंकती हुई आने लगी, कि फिर तू देख, न जाने कहांसे ये इतने फूल निकल पड़ते हैं—ढेरके ढर । तू सोचती होगीं, वे ऐसे ही सब फूल हैं—न ? मां, मुझे तो जान पड़ता है, यह तेरी बहुत बड़ी भूल है । वे फूल नहीं, वे मदरसेके लड़के हैं, देख न बगलमें किताब दबाये हुए हैं । वे मिट्टीके नीचे अपनी पाठशालामें रहते हैं । हमलोग जैसे दरवाजे खोलकर पढ़ते हैं, वे उस तरह नहीं पढ़ते, वे दरवाजा बन्द कर लेते हैं, तब पढ़ते हैं । वे मारे डरके खेलना भी नहीं चाहते, अगर चाहें भी तो पंडितजी खड़ा कर रखें । उनकी दुपहर कब होती है, तू जानती है ?—वैशाख और जेठमें । और जब आषाढ़ आता है, तब मेघोंके अंधेरेमें उनका पिछला पहर होता है । और जब घोर जंगलोंमें डालियोंकी खड़खड़ाहट हवा की सनसनाहट, और मेघोंमें गर्जना होने लगती है, तब इस शब्दमें उनके साढ़े चार बजते हैं । बस छुट्टी मिली नहीं कि सबके सब दौड़ पड़े,—जर्द, सफेद, सब्ज और लाल, कितनी ही तरहके कपड़े पहने हुए । मां ! सुन, जान पड़ता है ये सब आकाशमें रहते हैं जहां रातको तारे कतार बांधकर खड़े होते हैं । देख न, बगीचे भरमें फैले हुए, कितनी जल्दबाजी देख पड़ती है । मां, क्या तू कह सकती है—उनमें इतनी जल्दबाजी क्यों है ? तू जानती है, ये किस के पास हाथ फैलाये

हुए हैं ? तू क्या सोचती है मेरी मांकी तरह उनके मां नहीं है ?)

बच्चेके मुखसे बच्चेकी तुलना और बच्चेकी आलंकारिक भाषामें, रवीन्द्रनाथ एक बहुत बड़ा तत्व कहला देते हैं । न कहीं अस्वाभाविकता है, न असंगति, इतने पर भी वे जो कुछ कहना चाहते हैं, कहा कर पूरा उतार देते हैं । जहां बच्चा फूलोंके सम्बन्धमें अपनी मांसे कहता है, वे पातालमें पढ़नेके लिये जाते हैं, वहां उनका उद्देश्य बीजकी शिक्षाके लिये या प्रगतिके लिये भेजना है—वह संसरणशील होकर निकलता है । जेठ-वैशाख फूल रूपी छात्रोंकी दुपहर, मेघोंकी गर्जनी, उनके छुट्टीके समयमें की गई घंटेकी आवाज है; यह सब अलंकारमात्र है । हाँ, इसमें दलोंके विकसित होनेकी एक वैज्ञानिक व्याख्या भी है, परन्तु इतनी छानबीन की आवश्यकता नहीं । परन्तु जहां बच्चा आकाशको उनका घर बतलाता है, वहां कल्पना कमाल कर देती है । आकाश तत्वको ही शास्त्रोंमें सब बीजोंका आश्रयस्थल कहा गया है । जहां बच्चा अपनी मांसे कहता है, मेरे जिस तरह मां है, उस तरह उनके भी मां है, वहीं एक दूसरे सूक्ष्म सोपानपर पहुँचकर शास्त्रके सर्वोच्च सत्यको महाकवि जिस खूबीसे सिद्ध कर देते हैं, उसकी प्रशंसा के लिये एक भी उचित शब्द मुंहसे नहीं निकलता आकाशको घर बतलाकर यदि कवि चुप रह गये होते तो उनसे एक बहुत बड़ी गलती हो जाती, क्योंकि घरका मालिक भी तो एक होता है । उसकी फिर कोई पहचान नहीं हो सकती थी । परन्तु बच्चेके मुंख से उसका भी उल्लेख आपने करा दिया और मालकिनके रूपमें फूलोंकी मां बतलाकर । वह है ब्रह्म, आकाशसे भी सूक्ष्म—आकाशकी सूक्ष्मतामें अवस्थान करनेवाला—सबका जनक—सबकी जननी । बच्चेके मुखसे इतनी स्वाभाविक भाषा और स्वाभाविक वर्णनके द्वारा इतना ऊँचा विज्ञान कह-लाकर बच्चेको पूरी तरह सिद्ध कर देना साधारण मनुष्यका काम नहीं । महाकवि रवीन्द्रनाथने जिस सरलता से इतना गहन तत्व कह डाला है, दूसरेके लिये इसका प्रयास उतना ही दुस्साध्य है ।

बच्चोंकी भाषामें 'नदी'पर आपने कविता लिखी है । कविता बहुत

बड़ी है । कुछ अंश हम उद्धृत करते हैं । देखिये, सीधी भाषामें भी कितने ऊंचे भाव आ सकते हैं—

"ओरे तोरा कि जानिस केउ
जले केनो उठे एतो ढेउ !
ओरा दिवस रजनी नाचे,
ताहा शिखेछे काहार काछे ?
सुन चल् चल् छल् छल्
सदाइ गाहिया चलेछे जल ।
ओरा कारे डाके बाहु तुले,
ओरा कार कोले बोसे दुले ?
सदा हेसे करे लुटो पु टी,
चले कोन् खाने छुटो छुटी ?
ओरा सकलेर मन तुषी
आछे आपनार मने खुशी ।
:o: :o: :o:
आमी बोसे बोसे ताइ भाबी
नदी कोथा होते एलो नाबी !
कोथाय पाहाड़ से कोन खाने,
ताहार नाम कि केहइ जाने ?
केहो जेते पारे तार काछे ?
सेथाय मानुष कि केउ आछे ?
सेथा नाहीं तरु नाहीं घास,
नाहीं पशु पाखीदेर वास,
सेथा शब्द किछु ना सुनी
पाहाड़ बोसे आछे महामुनि !
ताहार माथार उपरे शुवु--
सादा बरफ करिछे धूधू

सेथा राशि-राशि मेघ जतो
थाके घरेर छेलेर मतो।
सुधु हिमेर मतन हावा,
सेथाय करे सदा आसा-जावा,
सुधु सारा रात तारा गुली
तारे चेये देखे आंखीं खुली।
सुधु भोरेर किरण एसे
तारे मुकुट पराय हेसे।
:o: :o: :o:
सेई नील आकाशेर पाये,
सेथा कोमल मेघेर गाये,
सेथा सादा बरफेर बुके
नदी घुमाय स्वप्न - सुखे।
कबे मुखे तार रोद लेगे
नदी आपनि उठिलो जेगे
कबे एकदा रोदेर बेला
ताहार मने पड़े गेलो खेला,
सेथाय एका छिलो दिन राती
केहइ छिलो ना ताहार साथी;
सेथाय कथा नाई कारो घरे,
सेथाय गान केह नाहीं करे।
ताइ झुम झुम फिरि फिरि
नदी बाहिरिलो धिरी - धिरी
मने भाविलो जा आछे भबे
सबइ देखिया लइते हबे
नीचे पाहाड़ेर बुक जुड़े
गाछ उठेछे आकाश फुंड़े।

तारा ुड़ो बुड़ो तरु जतो,
तादेर बयस के जाने कतो !
तादेर खोपे-खोपे गांठे गांठे
पाखी वासा बांधे कुटो-काठे ।
तारा डाल तुले कालो कालो
आड़ाल करेछे रविर आलो ।
तादेर शाखाय जटार मतो
झुले पड़ेछे शेवला जतो ।
तारा मिलाये मिलाये कांध
जेनो पेतेछे आंधार फांद ।
तादेर तले - तले निरिबिली
नदी हेसे चले खिलि खिली ।
तारे के पारे राखिते धरे
से जे छुटी छुटी जाय सरे ।
से जे सदा खेले लुको चुरी,
ताहार पाये पाये बाजे तुड़ी ।

:o: :o: :o:

पथे शिला आछे राशि राशि
ताहा ठेलि चले हासि हासि ।
पाहाड़ यदि थाके पथ जुड़े,
नदी हेसे जाय बेंके चुरे ।
सेथा बास करे शि - तोला
जतो बुनो गाछ दाड़ी - झोला ।
सेथाय हरिण रोंवांय भरा
तारा कारेव देय ना धरा ।
सेथाय मानुष नूतन तरो
तादेर शरीर कठिन बड़ो ।

तादेर चोक दुटो नय सोजा,
तादेर कथा नाहीं जाय बोझा,
तारा पाहाड़ेर छेले मेये
सदाई काज करे गान गेये।
तारा सारा दिन मान खेटे,
आने बोझा भरा काठ केटे।
तारा चड़िया शिखर परे
बनेर हरिण शिकार करे।

:o: :o: :o:

नदी जतो आगे आगे चले
ततोइ साथी जुटे दले दले।
तारा तारी मतो, घर होते
सबाइ बाहिर होयेछे पथे;
पाये ठुन-ठुन बाजे तुड़ी,
जेनो बाजिते छे मल चुड़ी;
गाये आलो करे झिक झिक,
येन परेछे हीरार चीक।
मुखे कल कल कतो भाषे
एतो कथा कोथा होते आसे।
शेषे सखीते सखीते मेली
हेसे गाये गाये हेला हेली।
शेषे कोला कुली कलरवे
तारा एक होये जाय सबे।
तखन कल कल छूटे जल,
कांपे टलमल धरातल,
कोथाओ नीचे पड़े झर झर,
पाथर कॅपे उठे थर थर,

शिला खान-खान जाय टुटे,
नदी चले एलो केटे कुटे।
धारे गाछगुलो बड़ो बड़ो
तारा होये पड़े पड़ो-पड़ो।
कत बड़ो पाथरेर चाप
जले खसे पड़े झुप-झाप।
तखन माटी गोला घोला जले
फेना भेसे जाय दल-दले।
जले पाक घुरे घुरे उठे,
जेन पागलेर मतो छुटे

× × × ×

(क्योंजी, क्या तुम कोई कह सकते हो, ये पानी में इतनी तरंगें क्यों उठती हैं ? वे दिन-रात नाचती रहती हैं; अच्छा यह नाच उन लोगोंने किससे सीखा है ? सुनो, चल्-चल् छल्-छल् गाती हुई चली जा रही हैं। वे बाहें पसारकर किसे बुलाती हैं ? देखो—वे झूम रही हैं—बता दो मुझे—वे किसकी गोदपर बैठकर झूम रही हैं ? सदा हंस-हंसकर लहालोट हो जाती हैं, और दौड़ी चली जा रही हैं— किसकी ओर जा रही हैं ? वे सबके मनको संतुष्ट करके खुद भी आनन्दमें हैं।

× × × ×

बैठा हुआ मैं यह सोचता हूँ कि नदी कहाँसे उतरकर आई है ? वह पहाड़ भी कहाँ है ? क्या उसका नाम कोई जानता है ? क्या वहाँ कोई आदमी भी रहता है ? वहां तो न पेड़ है न घास; न वहां पशु-पक्षियोंका घर है, वहांका कोई शब्द भी तो नहीं सुन पड़ता, बस एकमात्र महर्षि पर्वत बैठे हुए हैं ! उनके सिरपर केवल सफेद बर्फ छाई हुई है। कितने ही मेघ घरके बच्चे की तरह वहां रहते हैं ! सिर्फ हिमकी तरह ठंढी हवा सदा आया-जाया करती है, उसे कोई देखता है तो बस सारी

रात आंखें फाड़-फाड़ कर उसे देखते ही रहते हैं। केवल सुबह की किरण वहां आती है और हंसकर उसे मुकुट पहना जाती है।

× × ×

उस नीले आसमानके पैरोंपर कोमल मेघोंकी देहमें, शुभ्र तुषारकी छातीपर अपने स्वप्नमय सुखके साथ नदी सोती रहती है! न जाने कब उसके मुंहमें धूप लगी थी, देखो न, नदी जग पड़ी है। धूपके लगने पर उसे न जाने कब खेल की याद आ गई! वहां उसके खेलनेके साथी और कोई न थे, थे बस दिन और रात! वहां किसीके घरमें बातचीत नहीं होती, कोई गाता भी नहीं। इसीलिये तो धीरे-धीरे झिर-झिर झुर-झुर करती हुई नदी वहां से निकल चली। उसने सोचा, संसारमें जो कुछ है, सब देख लेना चाहिये। नीचे पहाड़की छाती भरमें फैले आकाशको छेदकर पेड़ निकले हुए हैं। वे सब बड़े पुराने पेड़ हैं, उम्र उनकी कौन जाने कितनी होगी! उनके कोटरोंमें और हर एक गांठमें लकड़ियां और तिनके चुन-चुन कर पक्षी घोसले बनाते हैं। उन लोगोंने काली-काली डालियां फैला-फैला कर सूरज के उजालेको बिल्कुल छिपा लिया है। उनकी फूलोंमें जटाकी तरह न जाने कितना सिवार लिपटा हुआ झूल रहा है। उन्होंने एक-दूसरेके कन्धेसे कन्धा मिलाकर मानों अन्धकारका जाल बिछा रखा है। उनके नीचे बड़ा एकांत है, नदी वहां जाकर हँस पड़ती है, और हँसती हुई वहां से चल देती है। उसे अगर कोई पकड़ना चाहे तो पकड़ नहीं सकता, वह दौड़कर भाग जाती है। वह सदा इसी तरह छुई-छुअल खेलती रहती है और उसके पैरोंमें पत्थरके छोटे-छोटे टुकड़े बजते रहते हैं।

× × ×

रास्ते पर जो शिलाओंकी राशि मिलती है, उसे वह मुस्कराती हुई पैरोंसे ठेलकर चली जाती है। पहाड़ अगर रास्ता घेरे हुए खड़ा हुआ हो तो हंसती हुई, वह वहांसे घूमकर जाती है। वहां ऊंचे उठी सींगों और लटकती हुई दाढ़ीवाले सब जङ्गली बकरे रहते हैं। वहां रोओंसे भरे हुए हिरन रहते हैं, वे किसीको पकड़ाई नहीं देते। वहां एक नये

ढंगके आदमी रहते हैं । उनकी देह बड़ी मजबूत होती है । उनकी आंखें तिरछी होती हैं और उनकी बात समझमें नहीं आती । वे पहाड़ की संतानें हैं । वे सदा गाते हुए काम करते हैं । वे दिनभर मिहनत करके बोझभर लकड़ी काटकर लाते हैं । वे पहाड़की चोटीपर चढ़कर जंगली हिरणोंका शिकार किया करते हैं ।

× × ×

नदी जितनी ही आगे-आगे चलती है, उतने ही उसके साथी भी होते जाते हैं; दलके दल उसकी तरह वे भी घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े हैं । उसके पैरोंमें पत्थरकी गोलियोंकी ठनकार होती रहती है, जैसे कड़े और चूड़ियां बजती हों । उसकी देह में किरणें ऐसी चमकती हैं जैसे उसने हीरेकी चिक (टीक) पहनी हो । उसके मुखमें कल-कल स्वरसे कितनी ही भाषाय निकलती हैं, भला इतनी बात कहांसे आती है ? अन्तमें सब सखियां एक-दूसरेसे मिल-जुलकर हंसती हुई झूम-झूमकर एक दूसरेकी देहमें गिरती हैं । फिर—भेंटते समयके कलरवके साथ ही वे सब एक हो जाती हैं । तब कल-कल स्वरसे पानी बह चलता है, धरा ट्लमल् टल्मल् कांपने लगती है । कहीं झर-झर स्वरसे पानी नीचे गिरता है, और पत्थर थर्राने लगता है । शिलाओंके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, नदी, नाला काट कर चली जाती है । रास्तेके जितने बड़े-बड़े पेड़ हैं सब गिरनेपर हो जाते हैं । कितने ही बड़े-बड़े पत्थरोंके चहार टूट-टूटकर झपाझप पानी में गिरने लगते हैं । तब गली हुई मिट्टीके गंदले पानीमें फेनोंका दल बह चलता है । यानी भंवर उठती है और पागलकी तरह वह भी दौड़ चलती है ।

नदी पर लिखी महाकविकी इस कविताकी आलोचना करने की आवश्यकता नहीं । कविताके भाव आपने खूब प्रस्फुट कर दिये हैं । बच्चोंके लिये ऊँचे भावोंकी साहित्यिक कविता भी बहुत अच्छी की जा सकती है, इसका आंखों देखा प्रमाण आपको इन पंक्तियोंसे मिल जायगा । एक दूसरी कविता पढ़िये । नाम है 'मास्टर बाबू' । यहां बच्चा खुद मास्टर

की कुर्सी ग्रहण करता है। उसका छात्र है बिल्लीका बच्चा। बंगालमें एक कहानी बहुत प्रचलित है। किसी स्यार (मास्टर साहब)ने एक मदरसा खोला था। उसमें सैकड़ों झींगुर और कितने ही चौपाये—छेपाये और सैकड़ों पैरवाले जीवोंके बच्चे पढ़नेके लिये आते थे। अस्तु कहानी बहुत लम्बी-चौड़ी है, हम तो बिल्लीके बच्चेके पढ़ानेवाले मानवशिशुके मास्टर बननेका कारण मात्र बतलाना चाहते हैं। कहना न होगा कि बच्चेको वह प्रचलित कहानी सुनकर ही मास्टर बननेका शौक चर्राया था। बच्चा खुद भी पाठशाला जाता है, शायद पहली पुस्तक पढ़ चुका है, उसके पढ़नेके ढङ्गसे यह बात प्रकट हो जाती है। उसने स्वयं जो पाठ याद किया है, वही बिल्लीके बच्चेको भी पढ़ाता है। हां, जिस स्यारने पाठशाला खोली थी, उसने अपना नाम 'कानाई मास्टर' रखा था। इसीलिये बच्चा कहता है—

"आमी आज कानाई मास्टर
पड़ो मोर बेराल छानाटी,
आमी ओके मारिने मा बेंत
मिछि मिछि बसी निये काठी!
रोज रोज देरी करे आसे,
पड़ाते देय ना ओ तो मन,
डान पा तुलिये तुले हाइ
जतो आमी बोली सुन् सुन्।
दिन-रात खेला खेला खेला,
लेखाय पड़ाय भारी हेला।
आमी बोली च छ ज झ ञ,
ओ केवल बोले म्यों म्यों।
प्रथम भागेर पाता खुले
आमी ओरे बोझाई मा कतो
चुरी करे खासने कखनो
भालो होस गोपालेर मतो!

जतो बोली सब हय मिछे
कथा यदि एकटी ओ सुने !
माछ यदि देखेछे कोथाव
किछुई थाके ना आर मने !
चड़ाइ पाखीर देखा पेले
छुटे जाय सब पड़ा फेले !
यदि बोली च छ ज झ ञ
दुष्टुमि करे बले म्यों !
आमि ओरे बोली बार बार
पड़ार समय तुमी पड़ो—
तार परे छुटी होये गले
खेलार समय खेला कोरो !
भालो मानुषेर मतो थाके
आड़े आड़े चाय मुख पाने,
एमनी से भान करे, जेनो
जा बोली बुझेछे तार माने !
एकटू सुयोग बुझे जेई
कोथा जाय आर देखा नेइ !
आमी बोली च छ ज झ ञ
ओ केवल बोले म्यों-म्यों !

(मैं आज कानाई मास्टर हूँ, मेरे बिल्लीके बच्चे पढ़ो ! मैं उसे बेंत नहीं मारता, दिखावभरके लिये लकड़ी लेकर बैठता हूँ, समझी मां ! रोज देर करके आता है, पढ़नेमें उसका जी भी नहीं लगता । दाहिना पैर उठाकर जंभाई लेने लगता है चाहे कितना भी उसे समझाऊँ ! दिन-रात बस खेल-कूदमें पड़ा रहता है, पढ़ने-लिखनेकी ओर तो ध्यान देता ही नहीं । मैं जब कहता हूँ,—च, छ, ज, झ, ञ, तब वह बस म्यों-म्यों किया

करता है । मां पहली किताबके पन्ने खोलकर मैं उसे समझाता हूँ, कभी चुराकर न खाना, गोपालकी तरह भलामानस बन । परन्तु चाहे जितना कहूँ एक भी बात उसके कानमें नहीं पड़ती । कहीं मछली देखी कि रहा-सहा भी सब भूल गया । अगर कहीं उसने "चड़ाई" गौरइया पक्षी देख लिया तो बस सब पढ़ना-लिखना छोड़कर दौड़ा । जब मैं कहता हूँ—च छ ज झ ञ तब वह म्यों-म्यों कर के रह जाता है । मैं उससे बार-बार कहता हूँ पढ़नेके वक्त पढ़ा करो, जब छुट्टी हो जाय, तब खेलने के वक्त खेलना । भलेमानसकी तरह बैठा रहता है तिरछी निगाह करके मेरा मुंह ताकता है, ऐसा भाव बतलाता है जैसे उसका अर्थ सब समझता हो । जहां कहीं जरा-सा मौका मिला कि उड़ जाता है, बस फिर दर्शन ही नहीं ।

कविवर रवीन्द्रनाथ ने बच्चोंकी भाषामें ऐसी कितनी ही कविताएँ लिखी हैं । पढ़कर बच्चोंके स्वभावपर उनका विचित्र अधिकार देख मुग्ध हो जाना पड़ता है ।

शृंगार—

जहां रवीन्द्रनाथने विश्व-प्रकृतिके शृंगार-भावका चित्रांकण किया है, वहां उन्होंने उसके कोमल सौन्दर्यकी जितनी विभूतियां हैं, उन्हें बड़ी निपुणताके साथ प्रस्फुट कर दिखाया है। उनकी यह कला बड़ी ही मनोहारिणी है। वे बाहरी सौन्दर्यके इधर-उधर बिखरे हुए—प्रक्षिप्त अंशोंको जिस सावधानीसे चुनकर उनका एक ही जगह समावेश कर देते हैं, उनकी अवलोकनशक्ति इतनी प्रखर जान पड़ती है कि मानो उसके प्रकाशमें एक छोटीसे छोटी वस्तु भी नहीं छूटने पाती, जैसे पूर्णता स्वयं उन्हें अवलोकनकी राह बता रही हो। दूसरी खूबी, उनके वर्णन की है। प्रकृतिका पर्यवेक्षण करनेवाला ही कवि नहीं हो जाता, उसे और भी बहुत-सी बातोंकी नाप-तौल करनी पड़ती है। एक ही शब्दके पर्यायवाची अनेक शब्द होते हैं। उनमें किस शब्दका प्रयोग उचित होगा, किस शब्दसे कवितामें भावकी व्यंजना अधिक होगी, इसका भी ज्ञान कवियोंको रखना पड़ता है। शब्दोंकी इस परीक्षामें रवीन्द्रनाथ अद्वितीय हैं। आपसे पहले हेमचन्द्र, नवीनचंद्र, माइकेल मधुसूदन, आदि बंगभाषाके बहुत बड़े-बड़े कवि हो गये हैं, परन्तु यह परख रवीन्द्रनाथकी जितनी जंची-तुली होती है, उतनी उनसे पहलेके किसी कविमें नहीं पाई जाती। छंदोंके लिये तो रवीन्द्रनाथको आप रत्नाकर कह सकते हैं। इतने छंदोंकी सृष्टि संसारमें किसी दूसरे कवि ने नहीं की। रवीन्द्रनाथके छन्दोंसे उनके भावोंकी व्यंजना और अच्छी तरह प्रकट होती है। जिस तरह, शब्दोंके बिना, रागिनीके सच्चे अलापसे उसका यथार्थ चित्र श्रोताओंके सामने अंकित हो जाता है, उसी तरह छन्दोंके आवर्त से ही रवीन्द्रनाथकी कविताका भाव प्रत्यक्ष होने लगता है।

एक कविता है 'याचना'। कविता शृंगार-रसकी है, बहुत छोटी है। परन्तु उतने ही में नायककी याचना पूरी हो जाती है। वह जितने तरहकी याचनाएं अपनी नायिकासे कर सकता है, सब उतनेमें ही आ जाती हैं। तारीफ यह कि है तो शृंगाररस, परन्तु अश्लील याचना कहीं नहीं होती। सब याचनाओंमें भावकी ही भिक्षा पाई जाती है। पढ़कर पाठकोंको फिर क्यों न भावावेश हो जाय?

"भालो बेसे सखि निभृत यतने
आमार नामटी लिखियो—तोमार
मनेर मन्दिरे। (१)
आमार पराणे जे गान बाजिछे
ताहार तालटी सिखियो—तोमार
चरणबमंजिरे।" (२)

अर्थ:—ऐ सखि! प्यार करके, एकान्तमें यत्नपूर्वक, अपने मनोमंदिरमें मेरा नाम लिख लेना (१)। मेरे प्राणोंमें जो संगीत बज रहा है, उसकी ताल, अपने पैरोंमें बजनेवाले नूपुरों से सीख लेना (२)।

नायककी प्रार्थना कितनी सीधी है, परन्तु कहनेका ढंग गजब कर रहा है। मूल कवितामें कलाकी कहीं कोई कसर नहीं रहने पाई, बल्कि उसका रूप इतना सुन्दर अंकित हो गया कि बड़े-बड़े वाक्योंकी प्रशंसा भी उसके आसन तक नहीं पहुँच पाती। भावोंके साथ रवीन्द्रनाथके छन्द और भाषा पर भी ध्यान दीजिये। जो जिसे प्यार करता है और दिलसे प्यार करता है, वह उसका नाम प्रकट नहीं होने देता। वह उसको हृदय के सबसे गुप्त स्थानमें छिपाये रहता है। नायिकासे नायककी यही याचना है। पद्यके दूसरे हिस्सेवाली नायककी याचना कलेजेमें चोट कर जाती है। उसके प्राणोंमें उसकी प्रियतमाकी जो रागिनी बज रही है—प्यारकी जो अलाप उठ रही है, उसकी ताल उसकी नायिकाके नूपुरोंमें गिरती है! कितनी बारीक निगाह है! प्रेमकी एक ही डोरके खिंचावमें दो मनुष्योंकी संसृति हो रही है। नायकके गलेमें जिस प्रेमकी रागिनी बजती है, नायि-

काकी गतिमें उसके नूपुर प्रत्येक पदक्षेपके साथ मानों उसी रागिनीकी ताल दे रहे हैं।

फिर महाकवि लिखते हैं--

"धरिया राखियो सोहागे आदरे
आमार मुखर पाखीटी--तोमार
प्रासाद-प्रांगणे (१)
मने करे सखि बांधिया राखियो
आमार हातेर राखीटी--तोमार
कनक--कङ्कणे।" (२)

अर्थः--मेरे बहुत ज्यादा बकवास करनेवाले इस पक्षीको सोहाग और आदरके साथ अपने प्रासादके आंगनमें पकड़ रखना (१)। ऐ सखि, मेरे हाथकी इस राखीको याद करके अपने सोनेके कंगनके साथ लपेट लेना (२)।

"आमार लतार एकटी मुकुल
भुलिया तूलिया राखियो--तोमार
अलक-बन्धने। (१)
आमार स्मरण-शुभ-सिन्दूरे
एकटि बिन्दु आंकियो--तोमार
ललाट-चन्दने।" (२)

अर्थः--मेरी लतासे एक कली भ्रमवशात् तोड़कर अपने जूड़ेमें खोंस लेना (१)। मेरी स्मृतिका शुभ सिन्दूर लेकर, अपने ललाटके चन्दनके साथ, उसका भी एक बिन्दु बना लेना (२)।

अपनी लतासे नायिकाको भ्रमवशात् या एकाएक (भूलिया) एक कली तोड़ लेनेके लिये अनुरोध करके 'भ्रमवशात्' या (भूलिया) शब्दसे, कवि नायिकाकी भावुकता सिद्ध करता है। वह जानबूझकर उससे कली इसलिये नहीं तुड़वाता कि उसकी नायिका उसीकी चिन्तामें बेसुध हो रही है। अतएव संस्कारवश कलीको तोड़कर जड़ेमें खोंस लेनेके लिये अनुरोध

करता है,—'भूलिया'—भूलकर, उसके उसी भावकी सूचना देता है। उसकी नायिकाका चन्दन-बिन्दु शोभा दे रहा है, उस ललाटमें अपनी स्मृतिके सिन्दूरका एक विन्दु और वना लेनेकी प्रार्थना; हृदयके किस कोमल परदे पर अंगुली रखकर बोल विल्कुल साफ खोल देती है, पाठक ध्यान दें।

"आमार मनेर मोहेर माधुरी
माखिया राखिया दियोगो—तोमार
अङ्ग सौरभे। (१)
आमार आकुल जीवन मरण
टूटिया लूटिया नियोगो—तोमार
अतुल गौरवे। (२)

अर्थ:—मेरे मनके मोहकी माधुरी, ऐ सखि! अपने अङ्ग सौरभके साथ तेल और फुलेलके साथ मिलाकर रख देना (१)। मेरे व्याकुल इस जीवन और मरणको अपने अनुपम गौरवके साथ टूटकर लूट लेना (२)

यहां हमें चौरपंचासिका वाले सुन्दर कविकी याद आ गई। इस तरहका एक भाव उसकी भी अंतिम प्रार्थनामें हमने पढ़ा था। उसके दो चरण हमें याद हैं। वह अपनी नायिकाको लक्ष्य करके कहता है—जब मैं मर जाऊंगा तब मेरे शरीरके पाचों तत्व तेरी सेवा करें! यही ईश्वरसे मेरी प्रार्थना है—

"त्वद्वापीषु पेयस्त्वदीय मुकुरे ज्योति स्त्वदीयांगणे।
व्योम्नि व्योम त्वदीय वर्त्मनि धरातलत्वात वृन्तेऽनिलः॥

अर्थात् मेरे शरीरका जल भाग तेरी वापीमें चला जाय, ज्योतिका अंत तेरे आईनेमें जाय और तेरे आँगनके ऊपरके आकाश भाग, तू जहां चले तेरे उस रास्तेपर मृत्तिकांश और तेरे ताड़के पंखमें मेरे शरीरका अनिल-भाग समा जाय। रवीन्द्रनाथके नायककी प्रार्थना इसी तरहकी है, परन्तु उसका ढंग दूसरा है।

एक और कविता देखिये। शीर्षक है 'बालिका वधू'। अपने देशकी विवाही हुई छोटी-छोटी बालिकाओंको वधू के वेशमें देखकर महाकवि कहते हैं—

१— ओगो वर, ओगो वधू,
एइ जे नवीना बुद्धि विहीना
ए तव वालिका वधू। (१)
तोमार उदार वातास एकेला
कतो खेला निये कराय जे बेला,
तुमी काछ एले भावे तुमी तार
खेलिबार धन सुधू,
ओगो वर ओगो वधू। (२)

२— जानेना करिते साज—
केश बेश तार होले एकाकार
मने नाहीं माने लाज। (३)
दिने शतवार भांगिया गड़िया,
धूला दिये घर रचना करिया,
भावे मने मने साधिछे आपन
घर करनेर काज
जाने ना करिते लाज। (४)

३— कहे एरे गुरुजने
ओजे तोर पति, ओ तोर देवता,
भीत होये ताहा सुने। (५)
केमन करिया पूजिबे तोमाय
कोनो मते ताहा भाविया ना पाय,
खेला फेली कभू मने पड़े तार—
"पालिबो पराण पणे
जाहा कहे गुरु जने।" (६)

४— वासर शयन परे
तोमार बाहुते बांधा रहिलेक
अचेतन घुम भरे। (७)

साड़ा नाहीं देय तोमार कथाय
कतो शुभक्षण वृथा चलि जाय,
जे हार ताहारे पराले से हार
कोथाय खसिया पड़े
वासक शयन परे । (८)

५— सुधू दुर्दिने झड़े
—दस दिक त्रासे आंधारिया आसे
धरातले अम्बरे—
तखन नयने घूम नाई आर,
खेला धूला कोथा पड़े थाके तार,
तोमारे सबले रहे आंकड़िया
हिया कांपे थरे थरे—
दुःख दिनेर झड़े । (९)

६— मोरा मने करि भय
—तोमार चरणे अबोध जनेर
अपराध पाछे हय । (१०)
तुमी आपनार मने मने हासो
एई देखितेई बुझी भाल बासो,
खेला घर द्वारे दांड़ाइया आड़े
किजे पाव परिचय,
मोरा मिछे करि भय । (११)

७— तुमी बुझियाछ मने,
एक दिन एर खेला घुचे जावे
—ओइ तव श्रीचरणे । (१२)
साजिया यतने तोमारि लागिया
वातायन तले रहिबे जागिया

शतयुग करि मानिबे तखन
क्षणेक अदर्शने,
तुमी बुझियाछ मने। (१३)

८— ओगो वर ओगो बधू,
जान जान तुमी—धूलाय बसया
ए बाला तोमार बधू। (१४)
रतन आसन तुमी एरी तरे
रेखेछो साजाये निर्जन घरे,
सोनार पात्रे भरिया रेखेछ
नन्दन-वन-मधू
ओगो वर ओगो बधू। (१५)

अर्थः—ओ वर—ऐ दुलहा, ओ बहु! यह बुद्धिहीन नई बालिका तुम्हारी बहू है (१)। तुम्हारी देहसे लगकर आई हुई उदार हवा इसे कितने खेलोंमें डालकर देर करा देती है कि क्या कहूँ (यहां वरके उदार भावोंके कारण बालिका वधूके खेलमें कोई बाधा नहीं पड़ती—जितनी देर तक उसका जी चाहता है, वह खेलती रहती है, यह भाव है) और जब तुम उसके पास आते हो तब वह तुम्हें भी अपने खेलकी वस्तु समझती है (२)।

२—वह वेष-भूषा करना नहीं जानती, उसके गुथे हुए बालोंके खुल जाने पर भी उसे लज्जा नहीं आती (३)। दिन भरमें सौ बार धूलसे वह घर बनाती और बिगाड़ती है, और फिर उसकी रचना करती है। वह मन-ही-मन सोचती है—यह मैं अपने घर और गृहस्थीका काम सम्हाल रही हूँ (४)।

३—उससे उसके पूजनीय लोग जब कहते हैं—'अरी' वे तेरे पति हैं—तेरे देवता हैं—तू इतना भी नहीं जानती', तब वह भयसे सिकुड़ जाती और उनकी बातें सुनती है (५)। परन्तु किस तरह वह तुम्हारी पूजा करे, सोचने पर भी तो इसका कोई उपाय उसकी समझमें नहीं आता।

कभी खेल छोड़कर वह अपने मनमें सोचती है—"पूज्यजनोंके इस आदेशका मैं हृदयसे पालन करूँगी (६)।"

४—वासर-सेज पर तुम्हारी बाहोंमें बंधी रहने पर भी वह मारे नींदके बेहोश पड़ी रहती है (७)। फिर वह तुम्हारी बातोंका कोई जवाब नहीं देती, कितने ही शुभ-मुहूर्त व्यर्थ बीत जाते हैं, जो हार तुमने उसे पहनाया वह न जाने सेजपर कहां खुलकर गिर जाता है (८)।

५—आंधी जब चलने लगती है—घोर दुर्दिन आ जाता है—जब धरातल और आकाशमें त्रास छा जाता है—दसों दिशाएं अन्धकारसे ढक जाती हैं तब फिर उसकी आंख नहीं लगती, उसकी धूल और उसका खेल न जाने कहां पड़ा रहता है, बलपूर्वक वह तुम्हें पकड़े रहती है—सिमटती हुई तुमसे और भी सट जाती है; उस आंधी और दुर्दिनके समय उसका हृदय थर-थर कांपता रहता है (९)।

६—हमलोगोंके चित्तमें शंका होती है कि कहीं ऐसा न हो कि यह नादान तुम्हारे श्रीचरणोंमें कोई अपराध कर बैठे (१०)। तुम मन ही मन हँसते रहते हो, जान पड़ता है—तुम यही देखना पसन्द भी करते हो, भला उसके घरौंदेके पास आड़में तुम क्यों खड़े रहते हो?—तुम्हें इससे कौन-सी जानकारी हो जाती है?—हम लोग व्यर्थ ही घबराते हैं—न? (११)।

७—तुमने अपने मनमें समझ रखा है, एक दिन तुम्हारे श्रीचरणोंपर उसका खेल समाप्त हो जायगा (१२)। तब वह तुम्हारे लिये बड़े यत्नसे अपनेको संवारकर झरोखेके पास जागती हुई बैठी रहेगी, तुम्हारे क्षणभरके अदर्शनको शतयुगोंके बराबर दीर्घ समझेगी, यह तुम समझे हुए हो (१३)

ओ वर—ओ मित्र! तुम जानते हो, धूलमें बैठी हुई यह बाला तुम्हारी ही वधू है (१४)। इसीके लिये निर्जन भवनमें तुमने रत्नोंसे आसन सजा रखा है और सोनेके पात्रमें नन्दन वनकी मधु भरकर रख दी है (१५)।

यहां हमें अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि महाकवि रवीन्द्रनाथ किस तरह चित्रका अवलोकन करते हैं, किस तरह हृदयके भीतरकी बातोंको समझते और शब्दोंमें उसकी यथार्थ मूर्ति उतार लेते हैं। बालिका वधू और उसके पतिके देव-भावोंको किस खूबीसे चित्रित किया है—साद्यन्त स्वाभाविक और साद्यान्त मनोहर !

श्रृंगारकी एक कविता महाकवि की और बड़ी सुन्दर है, नाम है "रात्रे ओ प्रभाते"। इसमें युवक पति और युवती पत्नीके निश्छल प्रेमका प्रतिबिम्ब पड़ता है:—

१— मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
कुंजकानने सुखे
फेनिलोच्छल यौवन सुरा
धरेछि तोमार मुखे। (१)
तुभी चेये मोर आँखीं परे
धीरे पात्र लयेछो करे
हेसे करियाछो पान चुम्बनभरा
सरस बिम्बाधरे
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
मधुर आवेश भरे। (२)
तब अवगुण्ठन खानि
आमी केड़े रेखेछिनु टानि
आमी केड़े रखेछिनु बक्षे तोमार
कमल-कोमल पाणी। (३)
भावे निमीलित तव नयन युगल
मुख नाहीं छिलो वाणी। (४)
आमी शिथिल करिया पाश
खुले दियोछिनु केशराश,

तव आनमित मुख खानि
सुखे थुयेछिनु बुके आनि,
तुमी सकल सोहाग सयेछिले, सखि
हासी-मुकुलित मुख,
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्नानिशीथे
नवीन मिलन सुख। (५)

२--आजि निर्मलवाय शान्त ऊषाय
निर्जल नदी तीरे
स्नान अवसाने शुभ्रवसना
चलियाछो धीरे-धीरे। (६)
तुमी वाम करे लोये साजि
कतो तुलेछो पुष्प राजि
दूरे देवालय तले ऊषार रागिनी
बांसिते उठेछे बाजि
एई निर्मल वाय शान्त ऊषाय
जाह्नवी तीरे आजि। (७)
देवि तव सिंथी मूले लेखा
नव अरुण सिंदुर-रेखा
तव वाम बाहु बेड़ी शंख वलय
तरुण इन्दुलेखा (८)
एकि मङ्गलमयी मूरति विकाशि
प्रभाते दितेछ देखा। (९)
राते प्रेयसीर रूप धरि
तुमी एसेछो प्राणश्वरि,
प्राते कखन देवीर वेशे
तु ी सुमुख उदिले हेसे;

आमी संभ्रम भरे रयेछि दांड़ाये
दूरे अवनत शिरे
आजि निर्मल वाय शान्त ऊषाय
निर्जन नदी तीरे। (१०)

अर्थः-(१) ऐ प्रिये ! कल वसन्तकी चाँदनीमें, अर्धरातके समय, उपवनके लता-कुंजके नीचे छलकती हुई फेनिल यौवनकी सुरा सुखपूर्वक मैंने तुम्हारे होठोंपर लगाई थी (२) । तुमने मेरी दृष्टिसे अपनी दृष्टि मिलाकर, धीरे-धीरे वह सुरापात्र ले लिया था, फिर हंसकर, मधुर आवेशसे भरकर, कल वसन्तकी चाँदनी अर्धरातमें, चुम्बनभरे अपने सरस बिम्बाधरोंसे उसका पान कर गई थीं (२) । मैंने तुम्हारा घूंघट खोल डाला था और तुम्हारे कमल-कोमल हाथको हृदयपर खींचकर रख लिया था (३) । उस समय तुम्हें भावावेश हो गया था, तुम्हारी दोनों आंखोंकी अधखुली हालत थी और न मुखमें एक शब्द आ रहा था (४) । बन्धनोंको शिथिल करके मैंने तुम्हारी केशराशि खोल दी थी, तुम्हारे झुके हुए मुखको सुखपूर्वक हृदयसे लगा लिया था, सखी कल वसन्तकी चाँदनी अर्धरातमें नवीन मिलन सुखके समय, मेरे द्वारा किये गये, इन सब सुहागोंको हँस-हँसकर तुमने सहन किया था—तुम्हारी हँसीकी कली ज्यों की त्यों मुकुलित ही बनी रही—न मसली—न मसल जानेके दर्दमें आह भरनेके इरादे से उसने मुंह खोला (५) ।

आज इस बहती हुई साफ हवामें, शान्त ऊषाके समय, निर्जन नदीके तट परसे स्नान समाप्त करके धीरे-धीरे चली आ रही हो (६) । बाएँ हाथमें साजी लेकर तुमने तो ये बहुतसे फूल तोड़े, इस समय वह सुनो, दूरके उस देव-मंदिरमें, वंशीमें, ऊषाकी रागिनी बज रही है और इस निर्मल वायु, शान्त ऊषा और निर्जन नदीमें भी उसकी तान समाई हुई है (७) । हे देवि ! तुम्हारी मांगमें बालसूर्य सिंदूरकी कैसी लाल रेखा खिंची हुई है । और तुम्हारी बाईं बाँहको घेरे हुए शंख-बलय तरुण इन्दु-सा शोभायमान हो रहा है (८) । यह क्या ?—यह कैसी मङ्गल-मूर्तिका विकास

में इस प्रभातके समय देख रहा हूँ (९) ! ऐ प्राणेश्वरी ! रातके समय तो प्रेयसीकी मूर्तिसे तुम मेरे पास आई थीं, सुबहको यह कब देवीकी मूर्तिमें हँसकर तुम्हारा उदय मेरे सम्मुख हुआ ? आज इस निर्मल वायु, शान्त ऊषा और निर्जन नदी-तट परके समयमें तुम्हारे सम्मानके भावोंमें सिर झुकाये हुए दूर खड़ा हुआ हूँ (१०) ।

इस कवितामें नारी-सौन्दर्यके दो चित्र दिखलाये गये हैं । इन दोनोंका समय कविताके शीर्षकसे सूचित हो जाता है। एक चित्र रातका है और दूसरा प्रभातका, इसीलिये इस कविताका नाम महाकविने 'रात्रे ओ प्रभाते' रखा है। दोनों चित्रोंकी विशेषता महाकविकी अमर लेखनीकी चित्रण-कुशलताको देखकर समझमें आ जाती है । वसन्तकी चाँदनी रातमें पतिके हाथोंसे यौवनकी छलकती हुई सुराका प्याला पत्नी ले लेती है । यहाँ—

"तुमी चेये मोर आंखी परे
धीरे पात्र लयेछो करे ।"—

महाकविके इस मनोराज्यकी जटिल किन्तु मोहिनी मायाकी ओर इतना स्पष्ट संकेत देखकर मन मुग्ध हो जाता है । सहधर्मिणी यौवनका प्याला एकाएक नहीं ले लेती, उसके लेनेमें एक विज्ञान है, एक वैसी ही बात है जिसके चित्रणमें कवि सम्राट गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं—

बहुरि वदन-विधु अंचल ढाँकी ।
पियतन चितै दृष्टि करि बांकी ॥
खंजन-मंजु तिरीछे नयननि ।
निज पति तिनहिं कह्यो सिय सैननि

गोस्वामीजीकी सीतामें पतिकी ओर निहारने पर चंचलता आती है, और उस समय वही स्वाभाविक था—परन्तु रवीन्द्रनाथकी पति-सुहागिनी यहां स्थिर है, धीर है, प्रेमकी अचल और गम्भीर मूर्ति है । वह पतिके मुखकी ओर ताकती है, पतिकी आँखोंकी राह जो आग्रह टपक रहा था, समझकर चुपचाप प्याला ले लेती है और फिर हँसकर जिन अधरोंपर

सैकड़ों चुम्बन मुद्रित हो रहे थे, उनसे उस यौवनसुराका पान कर जाती है। यह वह अपनी इच्छासे नहीं करती, पतिको संतुष्ट करनेके लिये करती है। फिर रात्रि की केलि जब आरम्भके एक छोरसे लेकर दूसरे छोर तक पहुँचती—प्रभात होता, तव उस स्त्री की वह मूर्ति नहीं रह जाती। वह अपने पतिकी दृष्टिमें देवीकी मूर्तिसी आकर खड़ी होती है। सूर्यकी पहली किरण पेड़ोंके कोमल पल्लवोंपर पड़ने नहीं पाती और उसका नहाना, फल तोड़ना सब समाप्त हो जाता है। उसका पति स्वयं कहता है—

"राते प्रेयसीर रूप धरि
तुमी एसेछो प्राणेश्वरी
प्राते कखन देवीर वेशे
तुमि समुखे उदिले हेसे।"

सुबहके समय वह हँसकर अपने पतिके पास खड़ी होती है, परन्तु उसका पति उसके सम्मानके लिये सिर झुका लेता है। यहां महाकवि पवित्रताकी महिमा दिखा रहे हैं। यह वही स्त्री है, जो अपने स्वामीकी आज्ञा मान कर रातको उसके हाथसे यौवन सुराका प्याला लेकर बिना किसी प्रकारके संकोचके सुरा पी गयी थी और आज सुबहको यह वही स्त्री है, जिसे उसका पति सिर झुका कर सम्मानित कर रहा है। इस कविता में एक ही स्त्रीके दो रूपोंकी वर्णनाएं हैं, एक उसके रातके स्वरूपकी—प्रेमिकाके मानवीय सौन्दर्यकी और दूसरी उसके सुबहके स्वरूपकी—देवी-सौन्दर्यकी। इन दोनों सौन्दर्योंको विकसित कर दिखानेमें रवीन्द्रनाथको पूरी सफलता हुई है। इस पर हम ज्यादा कुछ इसलिये नहीं लिख सकते कि रवीन्द्रनाथ स्वयं अपनी कवितामें विकसित रूप देते हैं। जहां कवि संक्षपमें वर्णन करते हैं वहां टीकाकारोंकी बन जाती है, वे उसके मनमाना अर्थ करने लगते हैं। रवीन्द्रनाथका यह गुण समझिये या दोष, वे अपनी कवितामें टीकाकारोंके लिये 'किन्तु' या 'परन्तु' भी नहीं छोड़ जाते।

शृंगार पर महाकवि रवीन्द्रनाथकी एक और गजब की कविता देखिये

नाम है 'ऊर्वशी'। इसमें वारांगणाका सौन्दर्य है। स्वाभाविकता वही जो उनकी हर एक कवितामें बोलती है।

१--नहो माता, नहो कन्या, नहो बधू, सुन्दरी रूपसि,
हे नन्दनवासीनी ऊर्वशि (१)
गोष्ठे जबे सन्ध्या नामे श्रान्त देहे स्वार्णांचलटानी
तुमी कोनो गृह प्रान्ते नाहीं जाल सन्ध्या दीप खानी;
द्विधाय जड़ित पदे, कम्प्रवक्षे नम्र नेत्र पाते
स्मिव हास्ये नाहीं चलो सलज्जित वासर शय्याते
स्तब्ध अर्द्ध राते। (२)
ऊषार उदय सम अनवगुण्ठिता
तुमी अकुण्ठिता। (३)

२--वृन्तहीन पुष्पसम आपनाते आपनी विकाशि
कबे तुमी फूटिले ऊर्वशि। (३)
आदिम वसन्तप्राते, उठेछिले मन्थित सागरे,
डानहाते सुधापात्र, विषभाण्ड लये बाम करे;
तरंगित महासिन्धु मंत्रशान्त भुजंगेर मतो
पड़ेछिलो पदप्रान्ते, उच्छ्वसित फणा लक्ष शत
करि अवनत। (५)
कुन्दशुभ्र नग्नकान्ति सुरेन्द्र वन्दिता,
तुमी अनिन्दिता। (६)

३--कोनो काले छिले नाकि मुकुलिका बालिका बयसी
हे अनन्त यौवन ऊर्वशि! (७)
अंधार पाथार तले कार घरे बसिया एकेला
माणिक मुकुता लये करेछिले शैशवेर खेला,
मणि दीप दीप्त कक्षे समु्रेर कल्लोल संगीते
अकलङ्क हास्यमुखे प्रवालपालंके घुमाइते
कार अङ्कटीते? (८)

जखनि जागिले विश्वे, यौवने गठिता
पूर्ण प्रस्फुटिता । (९)

४—युग युगान्तर होते तुमी सुधू विश्वेर प्रेयसी
हे अपूर्वशोभना ऊर्वशि ! (१०)
मुनिगण ध्यान भांगि देय पदे तपस्यार फूल,
तोमारि कटाक्ष घाते त्रिभुवन यौवन चंचल,
तोमार मदिर गन्ध अन्ध वायु बहे चारि भिते,
मधुमत्त भृङ्गसम मुग्ध कवि फिरे लुब्ध चिते,
उद्दाम संगीते । (११)
नूपुर गुंजरि जाव आकुल-अंचला
विद्युत्-चंचला । (१२)

५—सुर सभा तले जबे नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे विलोल-हिल्लोल । ऊर्वशि !
छन्दे छन्दे नाचि उठे सिन्धु माझे तरंगेर दल,
शय्या शीर्षे सिहरिया कांपि उठे धरार अंचल,
तव स्तनहार होते नभस्तले खसि पड़े तारा,
अकस्मात् पुरुषेर वक्षो माझे चित्त आत्महारा,
नाचे रक्त धारा । (१३)
दिगले मेखला तव टूटे आचम्बिते
अयि असम्वृते ! (१४)

६—स्वर्गेर उदयाचले मूर्तिमती तुमी हे उषसी,
हे भुवन मोहिनी ऊर्वशि ! (१५)
जगतेर अश्रु धारे धौत तव तनुर तनिमा,
त्रिलोकेर हृदिरक्ते आंका तव चरण-शोणिमा,
मुक्तवेणी विवसने, विकसित विश्व-वासनार
अरविन्द माझखाने पादपद्म रेखेछो तोमार
अति लघुभार (१६)

अखिल मानस स्वर्गे अनन्त रंगिणी,
हे स्वप्न संगिनि (१७)
७—ओइ सुनो दिशे दिशे तोमा लागी कांदिछे क्रन्दसी—
हे निष्ठुरा वधिरा ऊर्वशि (१८)
आदियुग पुरातन ए जगते फिरिबे कि आर,—
अतल अकूल होते सिक्त केशे उठिबे आवार ?
प्रथमसे तनुखानि देखा दिवे थम प्रभाते,
सर्वाङ्ग कांदिबे तव निखिलेर नयन-आघाते
वारिविन्दु पाते (१९)
अकस्मात् महाम्बुधि अपूर्व संगीते
रवे तरंगिते (२०)
८—फिरिबे ना फिरिबे ना—अस्त गेछे से गौरव राशि
अस्ताचलवासिनी ऊर्वशि ! (२१)
ताई आजि धरातले वसन्तेर आनन्द-उच्छ्वासे
कार चिरबिरहेर दीर्घश्वास निये बहे आसे,
पूर्णिमा-निशीथे जवे दश दिके परिपूर्ण हासी
दूर स्मृति कोथा होते बाजाय व्याकुल करा वांसी
झरे अश्रु राशि । (२२)
तबू आशा जेगे थाके प्राणेर क्रन्दने
अयि अबन्धने ! (२३)

अर्थ—१ नन्दनवनवासिनी ओ रूपवती ऊर्वशी ! तुम न माता हो न कन्या हो और न वधू हो (१) । थकी देहपर सोनेका आंचल खींचकर सन्ध्या जब गौओंके चरागाहमें उतरती है, तब ऐ ऊर्वशी ! तुम घरके कोनेमें शामका दीपक नहीं जलाती—न संकोचवश जकड़े हुए पैरोंसे, कांपते हुए कलेजेसे, नीची निगाह करके, मन्द-मन्द हँसती हुई; अर्घरातके सन्नाटेमें प्रियकी सेजकी ओर लज्जित भावसे जाती हो (२) । तुम्हारा तो घूंघट

सदा उसी तरह खुला रहता है जैसे ऊषाका उदय, और तुम सदा ही अकुण्ठित रहती हो (३)।

२—बिना वृन्तके फूलकी तरह अपने ही में अपनेको विकसित करके, ऐ ऊर्वशी ! तुम कब खिली (४) ? आदिम वसन्तके प्रभात कालमें मथे हुए सागरसे तुम निकली थीं, अपने दाहिने हाथमें सुधापात्र और बाएँमें विषका घट लेकर; तरंगित महासिन्धु मन्त्रमुग्ध भुजङ्गकी तरह अपने लाखों उच्छ्वासित फनोंको झुकाकर तुम्हारे श्रीचरणोंके एक किनारे पर पड़ा हुआ था (५)। कुन्दके समान शुभ्र तुम्हारी नग्न कान्तिकी चाह सुरपति इन्द्रको भी रहती है, तुम्हारी भला कौन निन्दा कर सकता है (६) ?

३—ऐ ऊर्वशी ! तुम्हारे इस यौवनका क्या कभी अन्त भी होता है ?—न, अच्छा माना कि तुम्हारा यौवन अनन्त है, परन्तु यह तो बताओ, कलीकी तरह कभी तुम बालिका भी थीं या नहीं ? (७) अतलके अन्धकारमें तुम किसके यहां अकेली बैठी हुई मणियों और मुक्ताओंको लेकर अपने शैशवका खेल करती थीं ? —मणियोंके दीपोंसे प्रदीप्त भवनमें समुद्रके कल्लोलके गीत सुनकर निष्कलंक मुखसे हँसती हुई प्रवालोंके पलंग पर तुम किसके अंकमें सोती थीं (८) ? इस विश्वमें जब तुम्हारी आंखें खुलीं, तब तुम्हारा यौवन गठित हो चुका था—तुम बिल्कुल खिल गई थीं (९)।

४—अपूर्व शोभामयी, ऐ ऊर्वशी ! युग-युगान्तरसे तुम इस विश्वकी प्रेयसी हो, बस (१०)। ऋषि और महर्षि ध्यान छोड़कर अपनी तपस्याका फल तुम्हारे श्रीचरणोंको अर्पित कर देते हैं, तुम्हारे कटाक्षकी चोट खाकर यौवनके प्रभावसे तीनों लोक चंचल हो उठते हैं। तुम्हारी शराब-जैसी नशीली सुगन्धको अन्ध वायु चारों ओर ढोये लिये जा रही है और मधु पी कर मस्त हुए भौरोंकी तरह कवि तुम पर मुग्ध और लुब्धचित्त होकर उद्दाम संगीत गाते हुए घूमते हैं (११)। तुम अपने नूपुर बजाती हुई, अंचलको विकल करके, बिजलीकी तरह चंचल गतिसे कहीं चली जाती हो (१२)।

५—देहमें लोल हिलोरोंका नृत्य दिखानेवाली ऐ ऊर्वशी ! जब तुम देवताओंकी सभामें पुलकित और हुलसित होकर नृत्य करती हो, तब तुम्हारे छन्द-छन्द पर सिन्धुमें तरंगें नाच उठती हैं,—शस्यके शीर्षोंमें (बालियोंमें)—धराका अंचल कांप उठता है,—तुम्हारे उन्नत उरोजों पर शोभा देनेवाले हारसे छूटकर आकाशमें तारे टूट गिरते हैं,—एकाएक पुरुषोंके हृदयमें चित्त अपनेको भूल जाता है,—नस-नसमें खूनकी धारा बह चलती है (१३)। ओ अपनेको न संभाल सकनेवाली ! एकाएक दिगन्तमें तेरी मेखला टूट गिरती है (१४)।

६—ऐ भुवनमोहिनी ऊर्वशी ! स्वर्गके उदयाचलमें तुम मूर्तिमँति ऊषा हो (१५)। तुम्हारे देहकी तनुता (नजाकत) संसारके आँसुओंकी सरिताके तटपर धोई गई है, तुम्हारे तलवे की ललाई तीनों लोकके हृदय-रक्तसे रंजित की गई है, बालोंको खोलकर खड़ी हुई ओ विवस्त्र ऊर्वशी ! विश्व-वासनाके विकसित अरविन्द पर तुम अपने अति लघुभार चरणोंको रखे हुए हो (१६)। ऐ मेरी स्वप्नकी संगिनी ! सम्पूर्ण संसारके मानस स्वर्गमें तुम अनन्त रंग दिखला रही हो (१७)।

७—ऐ निष्ठुर वधिर ऊर्वशी ! वह सुनो, तुम्हारे लिये चारों ओरसे रीदन उठ रहा है (१८)। पुरातन आदि युग क्या फिर इस संसारमें लौटेगा १—अछोर अतलसे ऐ सिक्तकेशिनी क्या तू फिर उमड़ेगी ? प्रथम प्रभातमें वह प्रथम तनु क्या देखनेको फिर मिलेगा ?—जब निखिलके कटाक्ष-प्रहारसे तुम्हारा सर्वाङ्ग रोता रहेगा (१९)। और गिरते हुए वारि-विन्दुओंके आघातसे महासागर एक अपूर्व संगीतके साथ अकस्मात् तरंगित होता रहेगा (२०)।

८—ऐ अस्ताचल-वासिनी ऊर्वशी ! उस गौरव-राशिका अस्त हो गया है,—अब वह न लौटेगा (२१)। इसीलिये आज पृथ्वीमें वसन्तके आनन्दोच्छ्वासके साथ न जाने किसके चिरविरहका दीर्घ श्वास बहा चला आ रहा है, पूर्णिमाकी रात्रिमें जब दसों दिशाएं हास्यसे पूर्ण हो जाती हैं, तब न जाने दूरस्मृति कहांसे व्याकुल कर देनेवाली वंशी बजाती रहती

है, आंसू झरते रहते हैं (२२)। ओ बन्धन-मुक्त ऊर्वशी, प्राणोंके क्रन्दनमें भी आशा जागती रहती है (२३)।

"ऊर्वशी" रवीन्द्रनाथकी एक अनुपम सृष्टि है। इसमें शृंगारको महाकविकी लेखनीने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। रवीन्द्रनाथके समालोचक टमसन साहब समालोचना के लिये जिन अजित बाबूकी जगह-जगह तारीफ करते हैं, अजित बाबूने खुद लिखा है—"ऊर्वशीमें सौन्दर्यबोधका जैसा परिपूर्ण प्रकाश है वैसा यूरोपके साहित्य भरमें मिलना मुश्किल है।" अजित बाबूकी राय, सम्भव है कि सच हो। परन्तु दुःख है, उन्होंने कविताके गुणोंका विश्लेषण करके उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं की, न एक ही ढंगकी यूरोपीय कविताओंका उद्धरण करके तुलनात्मक विचार करनेका कष्ट उठाया। कुछ भी हो ऊर्वशीके चित्रचित्रणमें महाकविकी एक अद्भुत शक्ति लक्षित होती है, इसमें संदेह नहीं। देव-सौन्दर्यमें देवभावोंका विकास कर दिखाना बहुत सीधा है। ऐसा तो प्रायः सभी कवि कर सकते हैं। हिन्दीमें शुद्ध शृंगार और स्वकीयाके वर्णनमें सफे-के-सफे रंग डाले गये हैं, यही बात संस्कृतमें भी है। परन्तु जहां परकीया नायिकाओं या वारांगणाओंका वर्णन आया है, वहां तो कवि नायिकाओंसे बढ़कर अश्लीलता करते हुए पाये जाते हैं—"दे मागदे दे मागादे करैं रतिमें तगादे हैं", ये सब उनके भावोंके जीते-जागते चित्र हैं। यह हम मानते हैं कि मनुष्य स्वभावका यह भी एक चित्र है, अश्लील भले ही हो, पर झूठ नहीं; अतएव साहित्यमें इसे भी स्थान मिलना चाहिये। यह बात और है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि अश्लीलमें शील और कुरूपमें सौन्दर्य, विकारमें निर्विकारकी व्यंजना और मनोहर होती है और वह भी सत्य है, अतएव वह अधिक हृदयग्राह्य है। कविकुल चूड़ामणि कालीदासने, कविराज राजि मुकुटालंकार हीरःकण श्रीमान श्रीहर्षने और इस तरह अनेक संस्कृतके महारथि कवियोंने कुल-कामनियोंके अन्तःपुरकी लीलाएं लिखते हुए अश्लीलताको हृदयतक पहुँचा दिया है,—"यदि पीनस्तनीं पुनरहं पश्यामि, मन्मथशरानलपीड़ितानि गात्राणि सम्प्रति करोमि

सुशीतलानि"—बेचारे अपने हृदयकी बात 'बेलाग' कह डालते हैं,—फिर उनके वंशज हिन्दीवाले—अपनी पैत्रिक सम्पत्तिका अधिकार क्यों छोड़ देते ?—"स्वधर्मे मरणं श्रेय: ।" अस्तु ।

'ऊर्वशी'के आरम्भमें वेश्या-सौन्दर्यपर बड़ी सावधानीसे रवीन्द्रनाथकी तूलिका संचालित होती है । उस नन्दन-वासिनीमें वे मातृ-भाव पाते हैं, न कन्या भाव, न वधूभाव । वह कुलवधूकी तरह लजाती हुई अर्धरातके सन्नाटेमें अपने प्रियतमकी सेजके पास नहीं जाती, वह घूंघटसे कभी मुंह नहीं मूंदती; ऊषाके उदयकी तरह उसका मुंह खुला रहता है; उसमें कुण्ठा नहीं है—किसीका दबाव नहीं है । महाकविकी उपमा "ऊषाका उदय" देखने लायक है । उपमा चोट कर जाती है । इतनी जंची तुली हुई है कि जान पड़ता है इससे बढ़कर और कोई उपमा यहां के लिये उपयोग्य नहीं । ऊषा स्वर्णाभा है, मधुर है, स्निग्ध है, मनोहर है और सबकी दृष्टि में पड़ती है, उसमें अवगुण्ठन, घूंघट या परदा नहीं, यही सब बातें ऊर्वशीमें भी हैं, वह स्वर्णवर्ण है, मनोरमा है और सबके लिये समभावसे मुक्तमुखी है ।

ऊर्वशीके हर एक पदबन्धमें, उसके एक-एक भाव पर दृष्टि डाली गई है और महाकविकी कविता-किरण उनके प्रत्येक विचार में ज्योति की रेखा खींच देती है । रम्भा जिस तरह चौदह रत्नोंके साथ समुद्र से निकली थी, उसी ऊर्वशीकी उत्पत्ति-कल्पना भी महाकवि सिन्धुके विशाल गर्भसे करते हैं । उसे अनन्त यौवना कह कर जब उसीसे उसके बाल्यकी बात पूछते हैं, मुकुलिता बालिकाके घरकी, उसकी क्रीड़ाओंकी, प्रवाल-पलंगपर सोनेकी बात पूछते हैं, तब कल्पना अपनी मोहिनी में डालकर क्षण भरमें मुग्ध कर लेती है, और पूर्ण यौवनमें गठित करके उस सोती हुई को एकाएक संसारकी आश्चर्य भरी दृष्टिके सामने ला खड़ा करके तो गजब कर देते हैं । जहाँ लुब्धकवि, मधु पीकर मतवाले हुए भौरोंकी तरह गाते हुए उसके पीछे-पीछे चलते हैं, वहां उसका नूपुरोंको बजाकर हिलोरोंसे अंचलको विकल करके बिजलीकी गतिसे गायब हो जाना वास्तवमें वेश्या-स्वभावका एक बहुत ही सुन्दर दृश्य दिखा जाता है । देवसभाके नृत्यका दृश्य भी बहुत

ही चित्ताकर्षक है । इस सौन्दर्यका अन्त दुखान्त है; यहां कलाका उत्कृष्ट परिचय मिलता है । वेश्याओंके सौन्दर्यका अन्त एक तो यों भी दुःखमय होता है, परन्तु यहां महाकवि एक दूसरी कल्पना से उसे दुःखमय कर देते हैं । वह दुःख ऊर्वशीके लिये नहीं है कविके लिये है । इस सौन्दर्यको वे पुरातन युगकी कल्पनामें डुबो देते हैं । उस गौरव-राशिके अस्त हो जानेकी याद कविको रुला देती है । फिर वसन्तकी हवामें विरहकी सांस वह चलती है और हृदयके रोदनमें एक आशाको जगाकर मुक्त ऊर्वशीका सौन्दर्य समाप्त हो जाता है । यहां ऊर्वशीकी सुन्दरताकी इतनी मधुर वर्णना भी कविको प्रसन्न नहीं कर सकती,—वे वह युग चाहते हैं—सत्यं शिवं सुन्दरम् वाला युग; इसीलिये कविताके वेश्या-सौन्दर्यमें भी सत्यं शिवं सुन्दरम् की अमर छाप लग गई है और नश्वरमें अविनश्वर ज्योति आ गई है ।

संगीत-काव्य

किसी कविमें एक साथ बहुतसे गुण नहीं मिलते। कितने ही शब्द-शिल्पी ऐसे देखे गये हैं जिनमें संगीतका नाममात्र भी न था। शब्दोंके मायाजालकी रचना करते हुए ही उन्होंने अपना सम्पूर्ण समय और सारी एकाग्रता खर्च कर दी है। जो लोग अपनी या किसी दूसरेकी कविताएं सस्वर पढ़ लेते हैं, मुशायरेमें अपना सुकोमल स्वर सुनाकर श्रोताओंको मुग्ध कर लेते हैं, वे सुकण्ठ चाहे भले ही हों पर वे संगीत-मर्मज्ञ नहीं। जिस तरह अच्छी कविता लिखनेके लिये पिंगल और अलंकार-शास्त्रका जानना आवश्यक है, उसी तरह संगीत-शास्त्रका ज्ञान प्राप्त करने या या सुगायक बननेके लिये राग-रागनियोंके स्वरूप, उनके स्वरोंकी पहचान, समयका निर्देश, ताल और मात्राओंकी सूझ और आवश्यक सूक्ष्मातिसूक्ष्म और और विषयोंका अधिकार प्राप्त करना भी बहुत ही जरूरी है। अतएव कहना चाहिये, कविताकी तरह संगीतकी भी एक अलग शाखा है और उसके पठन और अनुशीलनमें कदाचित् कविताकी अपेक्षा अधिक समय लग जाता है। और यही कारण अक्सर कवियोंको संगीत शास्त्रके अथाह सागरमें आत्मसमर्पण करते हुए हतोत्साह कर देता है।

हिन्दी-साहित्यमें जिन प्रसिद्ध कवियोंने घनाक्षरी, सवैया, दोहा, सोरठा और चौपाई आदि अनेकानेक छन्दोंकी सृष्टि की है, बहुत संभव है, सभा-स्थलमें वे सस्वर उन्हें गाते भी रहे हों, और चूंकि आजकल मुशायरेमें अक्सर कविता गाकर पढ़नेका रिवाज प्रचलित है,—साधारणसे लेकर अच्छेसे अच्छे कवि कविताको गाकर पढ़ते हैं, अतएव वे प्राचीन कवि भी जिनसे उत्तराधिकारके रूपमें कविताको गाकर पढ़ना हमें प्राप्त हुआ है और हम अब भी उसकी मर्यादाको पूर्ववत् अचल और अखण्डनीय बनाये हुए हैं, कविताका पाठ गाकर ही करते रहे होंगे। परन्तु यह मानी हुई बात

है कि कविता एक और कला है और संगीत एक और। अतएव यह निःसन्देह है कि अच्छी कविता लिखनेवाले किसी कविके लिये अच्छा गा लेना कोई ईश्वरीय नियम नहीं। तात्पर्य यह कि कवि होकर, साथ ही कोई गवैया भी नहीं बन सकता; परन्तु कविताकी तरह, सीखकर गाने की बात और है। यहाँ मैं यह सिद्ध नहीं कर रहा हूँ कि आजकलके मुशायरेमें ब्रह्मभोजके कराह मलते समयकी किरकिरी आवाजको मात करने-वाले कविता गायक कवियोंकी तरह पिछले जमानेमें सभी कवि भी थे, नहीं सूरदास जैसे सुगायक सिद्ध महाकवि भी हिन्दी में हो गये हैं। यहाँ इस कथनमें मेरा लक्ष्य यह है कि शब्द-शिल्पी संगीत-शिल्पियोंकी नकल न करें तो बहुत अच्छा हो। कविता भावात्मक शब्दोंकी ध्वनि है, अतएव उसकी अर्थ-व्यंजनाके लिये भावपूर्वक साधारणतया पढ़ना भी ठीक है, किसी अच्छी कविताको रागिनीमें भरकर स्वरमें माजनेकी चेष्टा करके उसके सौन्दर्यको बिगाड़ देना अच्छी बात नहीं।

ठीक यही बात गानेवालेके लिये भी है! उसके पास स्वर है, पर शब्द नहीं। उसके स्वरकी धारा बड़ी ही साफ है, परन्तु जिन शब्द-वीचियोंकी सहायतासे उसकी क्रीड़ा लक्षित हो रही है, उनमें वैसी एकता, सौन्दर्य-श्रृंखला और चमक बिल्कुल नहीं है। कर्मनासाके जलकी तरह उन्हें देखकर लोग उनसे तृष्णा-निवृत्तिकी आशा छोड़ देते हैं—उनमें वैसी कोई शक्ति नहीं जो प्राणोंमें पैठकर उन्हें शीतल कर सके। हम देखते हैं, गवैयोंके रचे हुए संगीतके ज़ितने भी काव्य हैं, उनका अधिकांश उद्देश्य किसी तरह उनसे निकाला गया है—अलावा इसके कविताकी दृष्टिसे उनमें कोई दम नहीं।

हिन्दीमें सूर, कबीर, तुलसी और मीराबाई आदि बहुतसे महाकवि ऐसे हो गये हैं, जिन्हें हम समस्वरसे शब्द-शिल्पी भी कहते हैं और सुगायक भी; मीरा और सूरके लिये तो केवल यह कहना कि अच्छा गाते थे, अपराध होगा, ये संगीत-सिद्ध थे,—संगीतकी उस कोमलता तक पहुँचे हुए थे जहाँ परम कोमल सच्चिदानन्द भगवान श्रीकृष्णकी स्थिति है।

इस बीसवीं सदीके लिये बंग-साहित्यमें जिस तरहके संगीत-मर्मज्ञकी आवश्यकता थी, महाकवि रवीन्द्रनाथके द्वारा वह पूरी हो गई। रवीन्द्रनाथ जितने ही बड़े शब्द-शिल्पी हैं उतने ही बड़े संगीत-विशारद भी हैं; बल्कि उनके लिये यह कहना चाहिये कि संसारमें श्रेष्ठ स्थान उन्हें जिस पुस्तकके द्वारा प्राप्त हुआ है, वह संगीतकी ही है—"गीताञ्जली" में भाव भाषा और स्वरके समावेशसे जिस स्वर्गीय छटाका उद्‌बोध होता है, महाकवि रवीन्द्रनाथ ने बड़ी निपुणतासे उसे संसारके सामने ला रखा है।

एक बार स्वर्गीय डी० एल० राय० महाशयके सुपुत्र बाबू दिलीपकुमार रायने महात्मा गांधीसे मिलकर कला और संगीतके सम्बन्धमें उनसे कुछ प्रश्न किये थे; महात्माजीने कहा; मैं उस कला और उस संगीतका आदर करता हूँ जो कुछ चुने हुए आदमियोंके लिये न होकर सर्वसाधारणके लिये हो। इसपर दिलीपबाबूका उत्तर बड़ा ही सुन्दर हुआ था। उन्होंने कहा, "इस तरह कलाको उत्कर्ष प्राप्त करनेकी जगह कहां रह जाती है? जो चीज सर्वसाधारणकी है, वह अवश्य ही असाधारण नहीं हो सकती और जिसके असाधारणता नहीं है, वह आदर्श भी नहीं है; और यदि आदर्श रहा तो साधारण जनोंके उन्नत होनेका लक्ष्य भी नहीं रह जाता; साधारण मनुष्यों की उन्नतिका आदर्शके न रहने पर द्वार ही रुक जाता है।

दिलीपबाबूका भाव हृदयसे स्वागत करने योग्य है। पूर्व और पश्चिमके पर्यटनसे संगीतके सम्बन्धमें दिलीपबाबूका ज्ञान कितना बढ़ा-चढ़ा है, यह उनके लेखोंसे मालूम हो जाता है। एक जगह उन्होंने हिन्दी-संगीतके साथ बंगला-संगीतकी तुलना करते हुए लिखा है—"हिन्दी-संगीत बंगला-संगीतसे बहुत ऊँचा है, बंगालियोंको अभी बहुत काल तक हिन्दीभाषी गवैयोंके चरणों पर बैठकर शिक्षा ग्रहण करनी होगी।" दिलीपबाबूके वाक्य को अपनी स्मृतिसे मैं उद्धृत कर रहा हूँ, इस समय उनके लेख मेरे पास नहीं हैं; इन वाक्योंमें शब्दों की एकता चाहे न हो पर उनके भाव ऐसे ही हैं, इसपर मुझे दृढ़ विश्वास है। दिलीपबाबूके ये शब्द बहुत ही जँचे-तुले और सहृदयताके सूचक हैं, इनसे दिलीपबाबूकी निष्पक्ष समालोचनाका

भी पता चल जाता है । एक दिन आपसमें बातचीत हो रही थी कि यही राय "आमार विज्ञान"के लेखक पण्डित रघुनन्दनजी शर्माने जाहिर की । हम यह भी देखते हैं कि अच्छे बंगाली गवैये ध्रुवपद-धम्मार अक्सर हिन्दीमें गाते हैं, फिर उनका अपनी भाषाके संगीतका प्रेम एक तरह छूट जाता है ।

हिन्दी संगीतकी योग्यता पर अब इस समय अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है । परन्तु यहाँ एक बात बिना कहे नहीं रहा जाता । पश्चिमके संगीतज्ञोंको भारतके संगीतसे अभी तक विशेष प्रेम नहीं हुआ है । भारतके कुछ नामी उस्ताद योरप हो आये हैं, परन्तु उनके वाद्यका प्रभाव अभी वहाँ उतना नहीं पड़ा जितने की आशा की जाती है । प्रभाव न पड़ने के मुख्य दो कारण हैं । पहला यह कि भारतके रागों और रागिनियोंको वे समझ नहीं सकते,—इनसे उनके हृदयमें न तो किसी भावका उद्रेक होता है, न कोई रससंचार; दूसरी बात यह है—तान मुरकीमें वहाँवालोंको इतना अधिक स्त्रीत्व दिखलाई पड़ता है कि वे वीर जातियोंके वंशज इसका सहन नहीं कर सकते; यहां की नृत्यकलाको भी वे लोग इसी दृष्टि से देखते हैं, अन्यथा यहांके नृत्य और संगीतसे अपने साहित्यमें कुछ लेनेकी चेष्टा करते । संगीतकी समालोचनामें योरपवाले वास्तवमें भूल करते हैं, और कुछ अंशोंमें हमारी भी भूल है । हमारे यहाँ भैरव, मालकोस, दीपक, आदि रागोंके जैसे स्वरूप चित्रित किये गये हैं, उन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकेगा कि इनमें स्त्रीत्व है, भैरवमें तो पुरुषत्वका विकास इतना अधिक करके दिखाया गया है कि संसारमें उस तरहका मस्त और दुनियांको तुच्छ समझनेवाला पुरुष संसारकी किसी भी जाति में न रहा होगा । भैरव-रागके अलापने पर वैसा ही भाव हृदयमें पैदा हो जाता है । हमारे यहाँ, ध्रु पद-धम्मार आदि तालोंमें स्त्रीत्वका तो कहीं निशान भी नहीं है। इनमें गाते समय गवैयेको हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं ध्रुपद गाते हुए स्वरमें कम्पन न हो जाय—यानी आवाज सदा भरी हुई और सीधी निकलती रहे, उसके कांपनेसे स्त्रीत्वके आ जानेका भय है । जो लोग इसका निर्वाह नहीं कर सकते, वे चूकते हैं । हमारे यहाँ मृदङ्गके बोल भी

पुरुषत्वके उद्दीपक हैं। जबसे राग-रागिनियोंकी खिचड़ी पकी, गजल-युग आया, तबसे संगीतमें स्त्रीत्वका प्रभाव बढ़ा है।

शब्द-शिल्पी होकर संगीतको कलाके शीर्षस्थान तक ले जाने वाले, स्वरकी लड़ीमें भाव भरे उत्तमोत्तम शब्द पिरोने वाले, हर एक रस और हर एक रागिनीमें कविता और संगीत कलाके दो पृथक चित्रोंमें समान तूलिका संचालन करनेवाले—बराबर रंग चढ़ानेवाले, एक ओर शब्दों द्वारा—दूसरी ओर रागिनीकी खुली मूर्ति खींचकर,—आवश्यकतानुसार शृंगार-करुणा-वीर-शान्त और बरवा मालकोस—छाया आदि रसों और राग-रागिनियोंका दिव्य संयोग दिखानेवाले, योरपको भारतीय कविता और भारतीय सगीतके उद्दाम छन्दों और कोमल-कठोर भावोंसे मुग्ध और चकित कर देनेवाले महाकवि रवीन्द्रनाथ प्रथम भारतीय हैं।

कलाको आदर्श स्थान पर प्रतिष्ठित करनेके लिये किस तरह साधारण जनोंकी सीमाको पार कर जाना पड़ता है, किस तरह से अनमोल शब्द-शृंङ्खलित भावके साथ स्वरकी लड़ीमें पिरोये जाते हैं, आगे चलकर विश्व-कविके कुछ उद्धृत संगीतोंमें देखिये:—

(संगीत—१)

"आहा जागि पोहाल बिभावरी
क्लान्त नयन तव सुन्दरी ॥ १ ॥
म्लान प्रदीप ऊषानिल चंचल,
पाण्डुर शशधर गत अस्ताचल,
मुछो आंखींजल, चलो सखी चलो,
अंगे नीलाञ्चल संवरी ॥ २ ॥
शरत प्रभात-निरामय निर्मल,
शान्त समीरे कोमल परिमल,
निर्जन वनतल शिशिर-सुशीतल,
पुलकाकुल तरुवल्लरी ॥ ३ ॥

बिरह-शय`े केलि मलिन मालिका,
एसो नव भुवने एसो गो बालिका,
गांथी लह अंचले नव शेफालिका,
अलके नवीन फूलमंजरी ॥ ४ ॥

अर्थ—"अहा ! जगकर सारी रात तुमने बिता दी, सुन्दरी ! तुम्हारी आँखोंमें थकन आ गई है ! ॥ १ ॥ दियेकी ज्योति मलिन पड़ गई है, चाँद मुरझाके अस्ताचलमें धँस गया है; तुम अपने आँसू पोंछो,—चलो—सखी !—नीलाम्बरी साड़ीके अंचल-प्रान्तको देहमें संभाल लो ! ॥ २ ॥ (इस समय) शरतका प्रभात (कैसा) स्वास्थ्यकर और निर्मल हो रहा है । शान्तभावसे ढुरते हुए समीरके साथ कोमल परिमल भी आ रहा है, निर्जन वनका तल भाग ओससे धुलकर शीतल हो गया है और द्रुमलताएं पुलककी अतिशयतासे व्याकुल हो रही हैं ! ॥ ३ ॥ विरह-सेजपर अपनी मलिन माला छोड़कर अयि बालिका, इस नवीन संसारमें आओ ! शेफालिका (हरसिंगार) फूलोंकी नई माला अंचलमें गूंथ लो ! बालोंमें फूलोंकी नई मंजरी खोंस लो ! ॥५॥"

विश्वकविके इस संगीतका प्लाट (नक्शा) यह है:—पहले कविने आगत यौवना किसी कामिनीके विरहकी कल्पना की है, उसे सारी रात प्रियतमकी प्रतीक्षा करनी पड़ी है । सेजपर प्रियतमकी प्रतीक्षामें—उसे भोर हो गया—आँखोंमें जागरणकी लालिमा और क्लान्ति आ गई है । नायिकाकी इस दशाको कवि-हृदय—अधिक देर तक नहीं देख सका—यहींसे उसके लिये कविकी सहानुभूति चित्रण-तूलिकाके सहारे उतरकर एक अपूर्व ढंगसे उसे संयोगका समाचार सुनाती है—सहानुभूतिसे लेकर समाचारके अन्ततक महाकविकी चित्रण-कुशलता गजब करती है—हृदयको बरबस अपनी ओर खींच लेती है । इस गीत-काव्यका श्रीगणेश करते हुए महाकवि अपने तुले हुए शब्दोंमें नायिकाके नयनोंके साथ समवेदना प्रकट करनेके लिये बढ़कर जब कहते हैं—

"आहा जागि पोहाल विभावरी
क्लान्त नयन तव सुन्दरी"

तब ये शब्द उनके रोम-रोमसे विरहिणीके लिये समवेदना सूचित कर देते हैं—नायिकाके विरह व्याकुल हताश भावको उनकी सहृदयता एक क्षण भी नहीं देख सकती। महाकविके उद्धृत पूर्वोक्त वाक्यमें, उनकी अथाह सहानुभूतिके साथ एक भाव जो और मिला हुआ है, वह है नायिकाकी उसी अवस्थासे गुजरकर महाकविका व्यक्तिगत अभिज्ञताका संचय—मानों कवि भी यह विरहका दुःख भोग चुका है, और चूंकि उसे इस दुःखका यथार्थ अनुभव है, इसलिये नायिकामें अनुभवजन्य स्वजातीय भावका आवेश देख उसके (कविके) हृदय से एक वह अपनापन नायिकाकी ओर बढ़ रहा है जिसे सर्वथा हम स्वजातीय कह सकते हैं, और इसलिये इस सहानुभूतिमें एक खास सौंदर्य आ गया है—दोनों हृदय मानो एक हो रहे हैं, फर्क इतना ही है कि एक ओर जागरण जनित दुःख—बाट जोहकर थकी हुई छल छलाई आंखें, और दूसरी ओर है एक सच्चा सहृदय—मर्मज्ञ—अकारण प्यार करनेवाला। सहृदय रवीन्द्रनाथ यहींसे नायिकाको मिलन-भूमिकी ओर ले चलते हैं, वे विरहकी वर्णनमें इतनी हाय-हाय नहीं मचाते कि पाठक भी ऊब जायं; उधर, सहानुभूतिके कोरे शब्दोंसे ही नायिकाके प्रति सहृदयता प्रकट करके कवि अपनी मित्रताका उतना बड़ा परिचय हरगिज न दे सकते जितना बड़ा उन्होंने नायिकाको मिलन-मंदिरकी ओर बढ़ा कर दिया है। महाकवि नायिकासे कहते हैं—

"म्लान प्रदीप उषानिल अंचल,
पाण्डुर शशधर गत अस्ताचल,
मुछो आंखींजल, चलो सखि चलो,
अंगे नीचांचल सँवरी।"—

प्रथम दो पंक्तियोंमें प्रकृतिका चित्र है, फलकी पंक्तियोंमें नायिकाके लिये धैर्य और साथ-साथ आशा। "अंगे नीलांचल सँवरी" इस पंक्तिमें विशृङ्खल भावसे—ढके हुए अङ्गोंसे खुलकर इधर-उधर पड़े हुए नीलाम्बरी

साड़ीके अंचल-भागको संभाल कर निकलनेके लिये कहकर कवि नायिकाको प्रियतमसे मिला देनेकी आशा दिलाता है। वस्त्र संभालनेकी ओर इशारा करके महाकविने नायिका विरह-भावना की ओर भी इशारा किया है; इस चित्रमें बहुत मामूली बात भी कविके ध्यानसे नहीं हटने पाई। विरहकी अवस्थामें वस्त्रका खुल जाना बहुत ही स्वाभाविक है, और मिलनेके पूर्व उसके संभालनेकी ओर इंगित करना उतना ही कवित्वपूर्ण। "चलो सखि चलो" इस वाक्यमें रवीन्द्रनाथ मानों नायिकाकी सखी बन जाते हैं; यहां जब एक ओर क्षोभ अभिमान, विरह और निराशा नजर आती है और दूसरी ओर—धैर्य, प्रेम, सहृदयता और आशाका आश्वासन मिलता है, तब हृदय में कविताकी कैसी दो दिव्य मूर्तियां एकाएक खड़ी हो जाती है! वर्णना-शक्तिकी सीमासे बाहर है। आगे चलकर महाकवि प्रकृतिमें स्वागतका चित्र दिखलाते हैं—"पुलकाकुल तरु वल्लरी" कहकर तरू और लताओंमें प्रभात समयका प्राकृतिक पुलक दिखलाते हुए, कल्पनाके द्वारा नायकके आ जानेका पुलक भी भर देते हैं। यहां प्रकृतिके सत्यसे कल्पनाके सत्यका मेल है, प्रकृतिके पुलकमें नायकके आगमनका पुलक है।

"विरह-शयने फेलि मलिन मालिका,
एसो नव भूवने एसो गो बालिका।"

यहां विरह शय्यापर कलकी गूंथी हुई मालिन मालाको छोड़ कर बालिका (नवयौवना तरुणी) को नवीन संसारमें बुलानेका अर्थ यही है कि महाकवि उसके संयोगकी सूचना देते हैं। उनका यह भाव और साफ हो जाता है जब वे कहते हैं—

"गांथि लह अंचले नव शेफालिका
अलके नवीन फूल मंजरी।"—

मलिन मालिकाको छोड़, अंचलमें नई शेफालिकाकी माला गूंथ लेने और बालोंमें पुष्प-मंजरीके खोंसनेका इशारा सूचित करता है संयोगका समय अब आ गया। अपनी दु:खिनी सखीको उसके प्रियतमके पास महा-कवि इस तरह कवित्व-पूर्ण ढंगसे ले चलते हैं।

(संगीत—२)

"बाजिलो काहार बीणा मधुर स्वरे
आमार निभृत नव जीवन परे ।। १ ।।
प्रभात-कमल-सम
फुटिलो हृदये मम
कार दुटि निरुपम चरण तरे ।।२।।
जेगे उठे सब शोभा सब माधुरि
पलके पलके हिया पुलके पुरी,
कोथा होते समीरण
आने नव जागरण,
पराणेर आवरण मोचन करे ।। ३ ।।
लागे बुके सुखे-दुखे कतो जे व्यथा,
केमने बुझाये कबो जानि ना कथा ।
आमार वासना आजि
त्रिभुवने उठे बाजि,
कांपे नदी वन-राजि वेदना-भरे ।। ४ ।।
बाजिलो काहार वीणा मधुर स्वरे ।"

अर्थः—"मेरे निभृत (निर्जन) और नवीन जीवन पर यह मधुर स्वरसे किसकी वीणा बजी ? ।।१।। प्रभात-कमलकी तरह मेरा हृदय किसके दो निरुपम चरणोंके लिये विकसित हो गया ? ।।२।। पल-पलमें हृदयको पुलक-पूर्ण करके सम्पूर्ण शोभा—सम्पूर्ण माधुरी जग रही है । न जाने समीर कहाँसे नवीन जागरण ला रहा है (कि उसके स्पर्श मात्रसे शरीरमें सजीवता आ रही है)—इस तरह वह प्राणोंपर पड़े हुए पर्देको हटा देता है ।) जीवनकी जड़ता, मोह और आलस आदिको दूर कर देता है ।) ।।३।। सुख और दुःखके समय हृदयमें न जाने व्यथाके कितने झोंके लगते हैं !—उन्हें मैं किस तरह समझाकर कहूँ—मुझे उसकी भाषा

नहीं, मालूम । आज मेरी ही वासनाएं सारे संसारमें मुखरित हो रही हैं । उनकी आहोंसे वृक्ष जङ्गल नदी आदि कांप रहे हैं । अचानक न जाने किसकी वीणा सुमधुर स्वरसे बज उठी ।।४।।

इस संगीतकी रचनामें महाकविने छायावादका आश्रय लिया है । यों तो जान पड़ता है कि कविता निराधार है—आसमानमें महल खड़ा करनेकी युक्तिकी तरह बेबुनियाद है, परन्तु नहीं, हृदयके सच्चे भावोंको चित्र का रूप देकर महाकविने इस कवितामें जीवनकी अमर स्फूर्ति भर दी है । इस कवितामें जितना ऊंचा कवित्व है—प्राणोंकी भाषाका जितना उच्च विकास है, उतना ही गम्भीर दर्शन भी है । हमारे मनोज्ञ, पण्डित कहते हैं, बाहरी संसारके साथ मनका जबरदस्त मेल है, जब मनमें किसी प्रकारका हर्ष अपनी मनोहर महिमापर इतराता रहता है, तब उसका चित्र हमें बाहरी संसारमें भी देख पाता है,—उसकी छाया—वैसा ही भाव बाहरी संसारमें भी हम प्रत्यक्ष करते हैं,—मानों संसारका एक-एक कण हमारे सुखके साथ सहानुभूति रखता हुआ हमारे हर्षकी प्रतिध्वनि हमें सुना रहा है; और जब दुःखकी अधीरता हृदयको डावांडोल कर देती है, तब भी हम बाहर संसारमें मानों उसीकी मलिन रेखा पात-पातमें प्रत्यक्ष करते हैं । यहां, इस कवितामें महाकविके हृदयमें पहले सुखका अंकुर निकलता है, फिर वही वासनाके रूपमें फैलकर बढ़ जाता है—इतना बढ़ता है कि तीनों लोकको अपने विस्तारसे ढक लेता है । यही इस कविताकी बुनियाद है और चित्रणकी अपूर्व कुशलता इसका मनोहर शरीर । हृदयमें सुख-साम्राज्यके फलकर वासनाकी वंशी छेड़नेके साथ ही महाकविके मुखसे निकलता है—

"बाजिलो काहार वीणा मधुर स्वरे
आमार निभृत नव जीवन परे"—

महाकविका जीवन नवीन है—एकान्तमें सुरक्षित है, और वहीं एक वीणा मधुर स्वरसे बजती है । हम कह चुके हैं यह सुखकी वीणा है,

यौवनके निर्जन प्राप्तिमें वीणा महाकविको मुग्ध करनेके लिये बज रही है। परन्तु यह किसकी वीणा है—बजानेवाला कौन है, यह कविको नहीं मालूम,—इतना ही रहस्य है—यही रहस्यवाद—छायावाद है। यह जरूर है कि महाकविके यौवनकुंजकी हरी-भरी कुटीरमें महाकविके सिवा और कोई न था,—अपने यौवनकी पल्लवित महिमाको देख हृदयकी निर्जन कन्दरोंमें मधुर स्वरसे उसका स्वागत करनेवाले महाकवि ही थे, परन्तु अपनी सत्तापर ऐसे स्थलमें यदि वे जोर देकर निश्चयपूर्वक कुछ कहते तो कविताका सौन्दर्य अवश्य ही नष्ट हो जाता, अज्ञात यौवनाके यौवन और अंग-सम्बन्धी प्रश्नोंकी तरह महाकविने वीणा बजानेवाले पर अपनी अज्ञातका आरोप करके कविताको बहुत ही सुन्दर चित्रित कर दिया है। बीणा बजानेवाले वे स्वयं हैं, परन्तु अपनेको भूलकर भूलकर वीणा बजानेवालेको जाननेके लिये उनकी उत्सुकता स्वयं यहां कविता बन रही है। महाकविकी अज्ञता अन्तिम बन्दको छोड़कर और सब बंदिशोंमें है। वीणा बजनेके साथ-साथ हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"प्रभात-कमल-सम
फुटिलो हृदय मम
कार दुटी निरुपम चरण तरे।"—

वीणा-झंकारके होते ही प्रभात-कालके कमलकी तरह महाकविके हृदयके दल खुल जाते हैं और उनके इस प्रश्न से कि—यह (हृदय) किसके दो अनुपम चरणोंके लिये विकसित हो गया?—एक और अज्ञेयवाद खड़ा हो जाता है। महाकविके इस प्रश्नमें बहुत बड़ी कविता है। चित्रकार पद्मको अंकित करके उसपर षोड़शी कामिनी या किसी देवी-मूर्तिको खड़ी कर सौन्दर्य-ज्ञानकी हद कर देते हैं, उधर कवि भी कमलसे चरणोंकी उपमा देते हैं, यहां भी महाकविका हृदय वीणा-ध्वनि सुनकर मानो किसी कामिनी के लिये कमलकी तरह विकसित हो जाता है। परन्तु वह कामिनी है कौन, यह महाकविको नहीं मालम। हृदय-कमलका विकास किसी कामिनी

के उस पर चरण रखनेके लिये ही हुआ यह ठीक है, कमल भी खिला है और कामिनीका वहां आना भी निस्सन्देह है, परन्तु वह कामिनी है कौन ?—कविको नहीं मालूम एक अज्ञात युवतीको वह अपना सम्पूर्ण हृदय देनेके लिये बढ़ा हुआ है । बढ़ा हुआ ही क्यों,—हृदयका विकास मानो दानके लिये ही हुआ है—उस पर उस कामिनीका स्वतः सिद्ध अधिकार है, हृदयवालेका जैसे वहां कुछ भी नहीं, जैसे युवती आकर कहे—"जब तक हृदय नहीं खिला था, तब तक तो वह तुम्हारा था, अब खुल कर हमारा है, चलो छोड़ो राह, जाने दो हमें अपने आसन पर ।" पाठक ध्यान दें—किस खूबीसे रवीन्द्रनाथ हृदयका दान करते हैं और वह भी एक उस युवतीको जिसके सम्बन्धमें वे कुछ भी नहीं जानते । हृदय खुल जाने पर सारी शोभा और सम्पूर्ण माधुरीका जग जाना बहुत ही स्वाभाविक है, इस पर वे कहते हैं—

"जेगे उठे सब शोभा सब माधुरि
पलकें-पलके हिया पुलके पुरी ।"—

"कोथा होते समीरण
आने नव जागरण
पराणेर आवरण मोचन करे ।"

यहां उन्होंने सिर्फ हवाकी करामात दिखलाई है कि वह अङ्गोंका स्पर्श करके किस तरह उनमें नया जागरण—नवीन स्फूर्ति पैदा करती—प्राणों पर पड़े हुए जड़ आवरणको हटा देती है; परन्तु आगे चलकर अपनी वासनाके साथ बाहरी प्रकृतिकी सहानुभूति दिखलाते हुए उन्होंने चित्रण-कुशलताकी हद कर दी है—

"आमार वासना आजि
त्रिभुवने उठे वाजि,
कांपे नदी वन राजि वेदना-भरे ।"

यहां महाकवि पत्तियों और लहरों को कांपते हुए देखकर जो यह कहते हैं कि आज मेरी ही वासना का डंका तीनों लोकमें बज रहा है

और इसीसे वन और नदियोंमें वेदनाका संचार दीख पड़ता है—वे कांप रहे हैं, इससे कविता पूर्ण रूप से खुल जाती है, कवि-हृदयको बिम्बित कर दिखानेके लिये एक बहुत ही साफ आइनेका काम करती है ।

(संगीत—३)

"आजि शरत-तपने, प्रभात-स्वपने
कि जानि पराण कि जे चाय ॥ १ ॥
ओइ शेफालीर शाखे कि बलिया डाके,
विहग-विहगी कि जे गाय ॥ २ ॥
आजि मधुर बातासे, हृदय उदासे,
रहे ना आवासे मन हाय ! ॥ ३ ॥
कोन कुसुमेर आशे, कोन फूल वासे,
सुनील अकाशे मन धाय ॥ ४ ॥
आजि के जेनो गो नाई, ए प्रभाते ताई
जीवन विफल हय गो ॥ ५ ॥
ताइ चारी दिके चाय, मन कँदे गाय,
"ए नहे, ए नहे, नय गो !" ॥ ६ ॥
कोन स्वप्ननेर देशे, आछे एलो केशे,
कोन छायामयी अमराय ! ॥ ७ ॥
आजि कोन उपवने, विरह-वेदने
आमारी कारणे कँदे जाय ॥ ८ ॥
आमि यदि गाइ गान, अधिर पराण,
से गान शुनाव कारे आर ॥ ९ ॥
आमी यदि गांथि माला, लये फुल-डाला,
काहारे पराव फुल हार ॥ १० ॥
आमी आमार ए प्राण यदि करि दान
दिबो प्राण तबे कार पाय ॥ ११ ॥
सदा भय हय मने पाछे अजतने
मने मने केहो व्यथा पाय ॥ १२ ॥

अर्थः—"आज शरदऋतुके सूर्योदयमें—प्रभातके स्वप्नकालमें जी न जाने क्या जाहता है ? ॥१॥ उस शेफालिका (हरसिङ्गार) की शाखा पर बैठे हुए विहङ्ग और विहङ्गी क्या जानें क्या कह-कहकर एक दूसरेको पुकारते हैं और उनके गानेका अर्थ भी क्या है ? ॥२॥ आज की मधुर वायु प्राणोंको उदास कर देती है—हाय !—घरमें मन भी नहीं लगता ! ॥३॥ न जाने किस फूलकी आशासे किस सुगन्धके लिये मन नीले आसमान की ओर बढ़ रहा है ! ॥४॥ आज—न जाने वह कौन—एक अपना मनुष्य मानों नहीं है, इसीलिये इस प्रभातकालमें मेरा जीवन विफल हो रहा है ! ॥५॥ इसीलिये मन चारों ओर हेरता है, और जो कुछ भी उसकी दृष्टिमें आता है, उसे देखकर व्यथाके शब्दोंमें गाते हुए कहता है—'यह वह नहीं है—वह (कदापि) नहीं !" ॥६॥ न जाने किस स्वप्नदेशकी छायामयी अमरावतीमें वह मुक्तकेशी (इस समय) है ! ॥७॥ आज न जाने किस उद्यानमें वह विरहकी दिनोंमें भरी हुई आती है, और मेरे लिये वहां से रोकर चली जाती है ॥८॥ मैं अगर किसी संगीत की रचना भी करूँ—संगीतोंकी माला गूंथूं, तो प्राणोंके अधीर होने पर वे संगीत—फिर मैं किसे सुनाऊँगा ? ॥९॥ और अगर फूलोंकी माला गूंथूं तो वह हार भी मैं किसे पहनाऊँ ? ॥१०॥ अगर मैं अपने प्राणोंका दान करना चाहूँ तो किसके चरणोंमें मैं इन्हें समर्पित करूँ ॥११॥ मेरा मन सदा डरता रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि मेरी त्रुटि से हृदयमें किसीको चोट लगे ॥१२॥

यह चित्र कविके उदास भावका है । जिस समय प्राणोंमें एक खोई हुई वस्तु के लिये मौन प्रार्थना गूंजती रहती है, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रार्थनाका आभास मात्र रहता है परन्तु क्यों और किसके लिये प्रार्थना होती है, यह बात प्यासे हृदयको नहीं मालूम होती । इस संगीतमें महाकविकी वैसी ही दशा है । शरदऋतुके स्वर्ण-प्रभातको देखते ही महाकविके हृदयमें एक आकांक्षा घर कर लेती है । सौंदर्यके साथ आकांक्षा, पुष्पके साथ कीट, यह ईश्वरीय नियम है । इस नियमका बन्धन कविको

भी स्वीकृत है । मनुष्यकी सीमामें रहकर अपनी रागिनीको—अपने प्रकाश-को असीम सौन्दर्य में मिला देनेकी कुशलतामें रवीन्द्रनाथ अद्वितीय हैं । वे प्रत्येक वस्तु के साथ अपने हृदयको मिलाकर उसकी महत्तासे अपनेको महान करना जिस तरह जानते हैं, उसी तरह अपने हृदयकी भाषासे संसारके हृदयको मुग्ध कर लेना भी उन्हें मालूम है । उनके इस संगीत में उदास स्वर बज रहा है, यह उदासीनता शरतकालके स्वप्नसुन्दर प्रभातको देखकर आती है । इस उदासीमें प्राणोंकी खोई हुई वस्तुका अभाव है और उसीके लिये मन आकाशके एक अन्जाने छोर में उड़ जाता है । इस उक्तिकी स्वाभाविक छटा देखने ही लायक है । महाकविके मन की ही बात नहीं, मनुष्यमात्रके मनमें जब उदासीनताकी घटा घिर आती है, तब उस उच्चाटनके साथ वह न जाने किस एक अजाने देश में अपने हृदयको छोड़कर उड़ता फिरता है । इस भावको महाकविकी भाषा किस अद्भुत ढंगसे अदा करती है, देखिये—

"कोन कुसुमेर आशे, कोन फुल वासे,
सुनील आकाशे मन धाय ।"

आसमानमें जिसके लिये मन चक्कर काट रहा है, कविको उसका परिचय नहीं मालूम । यह बात उसे आगे चलकर मालूम होती है—वह अपनी उदासीनताका कारण समझता है । परन्तु समझने से पहले मन हरेक वस्तुको पकड़कर, उसे उलट-पुलट कर देखता है, और उसे अपनी उदा-सीनताका कारण न समझ कर छोड़ देता था, जैसा स्वभावतः किसी भूले हुए आदमीकी याद करते समय लोग किया करते हैं—जो नाम या जो स्वरूप मनमें आता है वे प्राचीन स्मृतिके सामने पेश करते और वहांसे असम्मतिकी सूचना पाकर उसे छोड़ दूसरा नाम या दूसरा स्वरूप पेश करते हैं, जबतक स्मृति किसी नाम या स्वरूप को स्वीकृत नहीं करती तब तक इजलासके गवाहों की तरह नाम या रूप पेश होते रहते हैं । इस तरह की पेशी महाकविके उदास मनमें भी होती है, वे कहते हैं—

"आजि के जेनो गो नाई, ए प्रभाते ताई
जीवन विफल हय गो
ताइ चारि दिके चाय मन केंदे गाय,
'ए नहे, ए नहे, नय गो' ।"

जिसके लिये मन रो रहा है, उसकी सम्पूर्ण स्मृति महाकवि भूले हुए हैं—मनके सामने जिस किसीको वे पेश करते हैं उसके लिये मन कह देता है, "यह नहीं है, मैं इसे नहीं चाहता ।" इसके पश्चात् महाकविको मचले हुए मनकी प्रार्थना-मूर्ति याद आती है और अपूर्व कवित्वमें भरकर वे अपनी भाषाकी तूलिका द्वारा उसे चित्रित करते हैं—

"कोन स्वपनेर देशे आछे एलो केशे
कोन छायामयी अमराय ।
आजि कोन उपवने विरह-वेदने
आमारि कारणें केंदे जाय ।"

कविकी प्रेयसी वह खुले बालोंवाली किसी छायामयी अमरपुरीकी रहनेवाली है । अब इतनी देर बाद उसकी याद आई । साथ ही महाकवि अपने उच्चाटनकी मदिरा उसकी भी आंखोंमें छलकती हुई देखते हैं और स्वर उसके भी कण्ठसे सुनते हैं । वह वहां किसी उद्यानमें विरह-व्यथासे भरी हुई आती है और उनके लिये रोकर चली जाती है ।

उस विरह-विधुर-सुरपुरवासिनीकी याद करके महाकविको भाषाके धागेमें संगीत पिरोना बिलकुल भूल जाता हैं, वे इससे उदास हो जाते हैं, क्योंकि जिन चरणोंमें संगीतकी लड़ी उपहारके रूपमें रखी जाती है, वे उनसे बहुत दूर हैं—वहाँ तक उनकी पहुँच किसी तरह नहीं हो सकती इस हताश भावकी ध्वनिमें संगीत भी गूंजकर समाप्त हो जाता है ।—व्यथाके बादल कुछ बूँद टपकाकर जलती हुई जमीनको और जला जाते हैं ।

(संगीत—४)

"लेगेछे अमल धवल पाले मन्द मधुर हावा
देखि नाइ कभु देखि नाइ एमन तरणी बावा
कोन् सागरेर पार होते आने
कोन सुदूरेर धन ।
भेसे जेते चाय मन;
फेले जेते चाय एई किनाराय
सब चावा सब पावा ॥ २ ॥

पिछने झरिछे झर-झर जल
गुरु गुरु देया डाके,
मुखे एसे पड़े अरुण किरण
छिन्न मेघेर फांके ।
ओगो काण्डारी, केगो तुमी, कार
हासी कान्नार धन ।
भेबे मरे मोर मन,
कोन सुरे आजि बांधिबे यन्त्र
कि मन्त्र हबे गावा ॥ ३ ॥

अर्थः—"मेरे इस साफ और सफेद पालमें हवाके मधुर-मन्द झोंके लग रहे हैं, इस तरहसे नावका खेना मैंने कभी नहीं देखा ॥१॥ भला किस समुद्रके पारसे—किस दूर देशका धन इसमें खिचा आ रहा है ?—मेरा मन वहां बह कर पहुँच जाना चाहता है, और साथ ही,—इधर—इस किनारे पर सारी प्रार्थना और सम्पूर्ण प्राप्तियोंको छोड़ जाना चाहता है ॥२॥ पीछे झर-झर स्वरसे जल झर रहा है, मेघोंमें गर्जना हो रही है, और कभी छिन्न बादलोंके छेदसे सूर्यकी किरणें मेरे मुखपर आ गिरती हैं, ए नाविक, तुम कौन हो ?—किसके हास्य और आंसुओंके धन हो ?

मेरा मन सोंच-सोंचकर रह जाता है; तुम आज किस स्वरमें बाजा मिलाओगे—कौन-सा मन्त्र आज गाया जायगा ? ।।३।।"

(संगीत——५)

"यामिनी ना जेते जागाले ना केनो,
बेला होलो मरि लाजे ।। १ ।।
सरमें जड़ित चरणे केमने
चलिब पथेर माझे ।। २ ।।
आलोक परशे मरमें मरिया
देख लो शेफाली पड़िछे झरिया,
कोन मते आछे पराण धरिया
कामिनी शिथिल साजे ।। ३ ।।
निबिया बांचिलो निशार प्रदीप
उषार बातास लागी;
रजनीर शशी गगनेर कोने
लुकाय शरण मांगी !
पाखी डाकी बले——गैल विभावरी;
बधू चले जले लोइया गागरी,
आमी ए आकुल कवरी आवरी
केमने जाइबो काजे ।। ४ ।।"

अर्थः——"रात बीतनेसे पहले तुमने मुझे क्यों नहीं जगाया ? दिन चढ़ गया——मैं लाजों मर रही हूँ ।।१।। भला बताओ तो——इस हालतमें जब कि मारे लज्जाके मेरे पैर जकड़-से गये हैं, मैं रास्ता कैसे चलूं ? ।।२।। आलोकके स्पर्श मात्रसे मारे लज्जाके संकुचित होकर——वह देखो——शेफालिकाएं (हरसिंगारके फूल) झड़ी जा रही हैं, और इधर मेरी जो दशा है——क्या कहूँ, अपनी इस शिथिल सज्जाको देख किसी तरह हृदय को संभाले हुए हूँ ।।३।। उषाकी वायुसे बुझकर बेचारे निशाके प्रदीपकी जान

बची,—उधर रातका चांद आसमानके कोनेमें शरण लेकर छिप रहा है, पक्षी पुकार कर कहते हैं—"रात बीत गई", वगलमें घड़ा दबाये हुए बहुएं पानी भरनेके लिये जा रही हैं,—इस समय मैं खुली हुई अपनी व्याकुल वेणोको ढक रही हूँ, भला बताओ तो—कैसे मैं इस समय काम करनेके लिये बाहर निकलूं ?"

(संगीत—६)

"हेला फेला सारा बेला ए की खेला आपन सने ॥ १ ॥
एई बातासे फूलेर बासे मुख खानी कार पड़े मने ॥ २ ॥
आंखिर काछे बेड़ाय भासि,
के जाने गो काहार हासि,
दुटी फोंटा नयन सलिल रेखे जाय एई नयन कोने ॥ ३ ॥
कोन छायाते कोन उदासी
दूरे बाजाय अलस बांशी,
मने हय कार मनेर वेदना कैंदे बेड़ाय बांसीर गाने ॥ ४ ॥
सारा दिन गांथी गान,
कारे चाहि गाहे प्राण,
तरु तले छायार मतन बसे आछी फुल बने ॥ ५ ॥

अर्थः—"सव समय हृदयमें विरक्तके ही भाव वने रहते हैं, यह अपने साथ खेल हो रहा है ? ॥१॥ इस बातासमें, फूलोंकी सुवास के साथ जिसकी याद आती है, वह मुख किसका है ? ॥२॥ आंखोंके आगे वह तैरती फिरनेवाली किसकी हँसी है जो दो बूंद आंसू इन आँखोंके कोनेमें रख जाया करती है ? ॥३॥ वह उदासीन कौन है—दूर न जाने किस छायामें अलग भावसे वंसी बजा रहा है, जीमें आता है—हो न हो यह किसीके मनकी वेदना होगी—बांसुरीके गीतके साथ रोती फिर रही है ॥४॥ दिनभर मैं संगीतकी लड़ियां गूंथा करता हूँ,—क्यों—किसे मेरा

हृदय चाहता है ?—किसके लिये गाया करता है ?—इस पेड़के नीचे छायाकी तरह मैं किसके लिये फुलवाड़ीमें बैठा हुआ ? ।।५।।"

(संगीत—७)

"आमाय बाँधबे यदि काजेर डोरे
केन पागल कर एमन कोरे ? ।। १ ।।
बातास आने केन जानी
कोन गगनेर गोपन वाणी
पराण खानी देय जे भरे ।। २ ।।
(पागल करो एमन कोरे ।।)
सोनार आलो केमने हे
रक्ते नाचे सकल देहे ।। ३ ।।
कारे पाठाओ क्षणे क्षणे
आमार खोला बातायने,
सकल हृदय लये जे हरे ।
पागल करे एमन कोरे ।। ४ ।।"

अर्थ:—'मुझे अगर तुम कार्योंके भागोंसे बांधना चाहते हो, तो इस तरह मुझे पागल क्यों कर रहे हो ? ।।१।। मैं भला क्या जानूं कि क्यों बातास वह एक किस आकाशकी गुप्त वाणी ले आती है, फिर मेरे इन प्राणोंको पूर्ण कर देती है ।।२।। न जाने क्यों, किस तरह स्वर्ण-रश्मियां खूनके साथ मेरे तमाम देहमें नाचती रहती है ।।३।। तुम किसे बार-बार मेरे खुले हुए झरोखेके पास भेजते हो ? वह मेरे सम्पूर्ण हृदयको हर लेता और इस तरह मुझे पागल कर देता है ।।४।।"

(संगीत—८)

"तोमारि रागिणी जीवन-कुञ्जे
बाजे जेन सदा बाजे गो ।। १ ।।

तोमारि आसन हृदय-पद्मे
राज जेनो सदा राजे गो ॥ २ ॥
तव नन्दन-गन्ध-मोदित
फिरि सुन्दर भुवने,
तव पद-रेणु माखि लये तनु
साजे जेन सदा साजे गो ॥३॥
सब विद्वेष दूरे जाय जेन
तव मङ्गल-मन्त्रे
विकाशे माधुरी हृदय बाहिरे
तव संगीत-छंदे ! ॥ ४ ॥
तव निर्मल निरव हास्य
हेरी अम्बर व्यापिया,
तव गौरवे सकल गर्व
लाजे जेन सदा लाजे गो ॥ ५ ॥"

अर्थः—"मेरे प्राणोंके कुंजमें मानों सदा तुम्हारी ही रागिनी वज रही है ॥१॥ मेरे हृदयके पद्मपर मानों सदा तुम्हारी ही आसन अवस्थित है ॥२॥ नन्दन-वनकी सुगन्धसे मोद मग्न तुम्हारे सुन्दर भवनमें मैं विचरण करता हूँ, ऐसा करो कि मेरा शरीर तुम्हारे चरणोंकी रेणु धारण करके सजा हुआ रहे ॥३॥ सब द्वेष तुम्हारे मंगल मन्त्रके प्रभावसे दूर हो जाय, तुम्हारे संगीत और छंदोंके द्वारा तुम्हारी माधुरी मेरे हृदयमें और बाहर विकसित हो रहे ॥४॥ तुम्हारे निर्मल और नीरव हास्य को मैं सम्पूर्ण आकाशमें फला हुआ देखूं, इस तरह तुम्हारे गौरवके आगे मेरा सारा गर्व लज्जित हो जाय ॥५॥"

(संगीत—९)

"सकल गर्व दूर करि दिबो
तोमार गर्व छाड़िबो ना ॥ १ ॥

सबारे डाकिया कहिब, जे दिन
पाब तव पद रेणु-कण ॥ २ ॥
तव आह्वान आसिबे जखन
से कथा केमने करिब गोपन ?
सकल वाक्ये सकल कर्मे
प्रकाशिबे तव आराधना ॥ ३ ॥
अत मान आमि पेयेछि जे काजे
से दिन सकलि जाबे दूरे
शुधु तव मान देह सने मोर
बाजिया उठिबे एक सुरे !
पथेर पथिक सेओ देखे जाबे
तोमार बारता मोर मुख भावे,
भव संसार वातायन-तले
बोसे रबो जबे आनमना ॥ ४ ॥

अर्थः—मैं अपना और सब गर्व दूर कर दूंगा, परन्तु तुम्हारे लिये मुझे जो गर्व है, उसे मैं कदापि न छोड़ूंगा ।।१।। सब लोगोंको पुकारकर मैं कह दूंगा जिस दिन तुम्हारी चरणरेणु मुझे मिल जायगी (तुम्हारी कृपाके मिलते ही मैं दूसरोंको पुकारकर उसका हाल उन्हें सुना दूंगा—तुम्हारी कृपा-प्राप्तिके लिये उनमें भी उत्साह भर दूंगा ।) ।।२।। तुम्हारी पुकार जब मेरे पास आयेगी, तब उसे मैं कसे गुप्त रख सकूंगा ?—मेरे सब वाक्यों और सम्पूर्ण कार्योंसे तुम्हारी पूजा प्रकट होगी ।।३।। मेरे कार्यसे मुझे जो सम्मान मिला है, उस दिन इस तरह के सव सम्मान दूर हो जायँगे, एकमात्र तुम्हारा मान मेरे शरीर और मनमें एक स्वरसे बजने लगेगा; चाहे रास्तेका पथिक क्यों न हो, पर वह भी मेरे मुखके भावसे तुम्हारा संदेश देख जायगा, जब इस संसार रूपी झरोखेके नीचे मैं अनमना हुआ वठा रहूँगा ।।४।।"

(संगीत--१०)

अल्प लइया थाकि ताइ मोर
जाहा जाय ताहा जाय ॥ १ ॥
कणाटुकु यदि हाराय ता लये
प्राण करे हाय हाय ॥ २ ॥

नदी-तट सम केवलि वृथाई
प्रवाह आंकड़ि राखिवारे चाई,
एके एके बुके आघात करिया
ढेउ गुलि कोथा धाय ॥ ३ ॥

जाहा जाय आर जाहा किछु थाके
सब यदि दी सपिया तोमाके
तबे नाहीं क्षय, सबि जेगे रय
तव महा महिमाय ॥ ४ ॥

तोमाते रयेछे कतो शशीभानु,
कभु ना हाराय अणुपारमाणु
आमार क्षुद्र हाराधन गुलि
रबे ना कि तव पाय ? ॥ ५ ॥

अर्थः--"मैं थोड़ी-सी वस्तु समेटकर रहता हूँ, इसलिये मेरा जो कुछ जाता है वह सदाके लिये चला जाता है । एक कण भी अगर खो जाता है तो जी उसके लिये हाय-हाय करने लगता है ॥२॥ नदीके कंगारोंकी तरह सदा प्रवाहको पकड़ रखनेकी मैं वृथा ही चेष्टा किया करता हूँ; एक-एक तरंग आती है और मेरे हृदयको धक्का मारकर न जाने कहां चली जाती है ! ॥३॥ जो कुछ खो जाता है और जो कुछ रह जाता है, वे सब अगर मैं तुम्हें सौंप दूं, तो इनका क्षय न हो; सब तुम्हारी महान् महिमामें जगते रहें ॥४॥ तुममें कितने ही सूर्य और कितने ही चन्द्र हैं, कभी एक कण या परमाणु भी नहीं खो जाता; क्या मेरी खोई हुई क्षुद्र चीजें तुम्हारे आश्रयमें न रहेंगी ? ॥५॥"

महाकवि रवीन्द्रनाथके भक्ति-संगीतकी वङ्गलामें बड़ी तारीफ है । बड़े-बड़े समालोचक तो यहाँ तक कहते हैं कि संगीतकाव्य लिखकर अपने

इष्टदेवको सन्तुष्ट करनेवाले बंगालके प्राचीन कवियोंमें रवीन्द्रनाथका स्थान बहुत ऊंचा है, कितने ही भक्त कवियों के संगीत तो बिलकुल रूखे हैं, उनमें सत्य चाहे जितना भरा हो—दर्शनकी अकाट्य युक्तिसे उनकी लड़ियोंमें चाहे जितनी मजबूती ले आई गई हो, परन्तु हृदयको हरनेवाली कविताकी उसमें कहीं बू भी नहीं है। रवीन्द्रनाथकी लड़ियां भक्तिके अमर सरोवरमें कविताकी अमृत लहरियां हैं। हृदयकी जो भाषा अपनी वेदनासे उबलकर अपने इष्टदेवके पास पहुँचती है, उसमें एक दूसरी ही आकर्षण-शक्ति रहती है। रवीन्द्रनाथ हृदयकी भाषाके नायक हैं। उनकी आवेदनभरी भाषा जिस ढंगसे निकलती है, जिस भावसे भरकर इष्टदेवके मंदिर द्वारपर खड़ी होती है, उसमें एक सच्चे हृदयके साफ बिम्बके सिवा कुछ नहीं देख पड़ता।

इस संगीत के भी वही चित्र हैं जो रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

"आमि सकल गरब दूर करि दिब
तोमार गरब छाड़िब ना।"

उनके इस निवेदनमें हर एक पाठककी अन्तःरात्मा उनके हृदयका स्वच्छ मुकुर और उसमें खुले हुए निष्काम भावको प्रत्यक्ष करती है।" मैं सब प्रकारका गर्व छोड़ दूंगा, परन्तु तुम्हारा गर्व मुझसे न छोड़ा जायगा, इस उक्तिमें इष्टके प्रति—भक्तिकी कितनी ममत्वमयी प्रीति है!—पढ़ने वालेका हृदय बरबस उसे अपनायक दे डालता है। रवीन्द्रनाथ ईश्वरकी कृपा-दृष्टि स्वयं नहीं ले लेना चाहते, वे दूसरोंको उनकी कृपाका पात्र पात्र बनाना चाहते हैं। इसलिये वे कहते हैं—"जिस दिन मुझे तुम्हारी कृपा मिलेगी, उस दिन और को भी पुकारकर तुम्हारी कृपाका समाचार सुना दूंगा।" इस वाक्यमें रवीन्द्रनाथके हृदयकी विशालता जाहिर है। इसकी पुष्टिमें वे एक युक्तिभी देते हैं। वह यह कि—"जब मेरे लिये तुम्हारी पुकार होगी तब उसे मैं कसे छिपाऊँगा?—मेरी बातें और मेरे कार्य खुद तुम्हारी आराधना प्रकट कर देंगे।" प्रभुकी कृपा प्राप्तिका संवाद दूसरोंको कैसी विचित्र युक्तिसे दिया जा रहा है!

परिशिष्ट

रवीन्द्र कविता-कानन के लिए रवीन्द्रनाथ की बँगला रचनाओं की कालानुक्रमिक सूची तैयार करते हुए बड़ा हर्ष होता है। विशाल भारत (रवीन्द्र-अंक, १९४२) के लिए मैंने स्वर्गीय ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय की रवीन्द्र ग्रन्थ-सूची के आधार पर एक ग्रंथ-सूची तैयार की थी। नीचे दी गई ग्रंथ-सूची विश्वभारती त्रैमासिक (अंगरेजी) के रवीन्द्र जन्मांक के आधार पर तैयार की गई है। आशा है हिन्दी के साहित्यिकों, साहित्य के विद्वानों तथा विद्यार्थियों के लिए यह उपयोगी सिद्ध होगी।

कालानुक्रमिक ग्रंथ-सूची के आधार पर हमें किसी लेखक के चहुँमुखी विकास को समझने में आसानी होती है। दुःख की बात है हिन्दी में इस दिशा में उतना काम नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द की सारी कहानियों की कालानुक्रमिक सूची अभी तक हमारे पास नहीं है। हिन्दी में खोज का काम विश्वविद्यालयों और उसके बाहर भी तेजी से बढ़ रहा है। इसके लिए कालनुक्रमिक की सूची की कितनी आवश्यकता है यह कहने की आवश्यकता नहीं। मुझे पूर्ण आशा है कि विद्वान् और गंभीर विद्यार्थी इधर ध्यान देंगे।

स्वाधीनता कार्यालय,
कलकत्ता।

—महादेव साहा

रवीन्द्र ग्रन्थ-सूची

१८७८ :	कवि काहिनी	(कविताएँ)
१८८० :	बन-फूल	(कविताएँ)
१८८१ :	वाल्मीकि प्रतिभा	(संगीत नाटक)
	भग्न-हृदय	(पद्य नाटक)
	रुद्र छन्द	(पद्य नाटक)
	योरप प्रवासिर पत्र	(चिट्ठियाँ)
१८८२ :	संध्या संगीत	(कविताएँ)
	काल-मृगया	(संगीत नाटक)
१८८३ :	वउ ठाकुराणीर हाट	(उपन्यास)
	प्रभात संगीत	(कविताएँ)
	विविध प्रसंग	(गद्य, विविध)
१८८४ :	छवि ओ गान	(कविताएँ)
	प्रकृतिर प्रतिशोध	(गद्य नाटक)
	नलिनी	(गद्य नाटक)
	शैशव संगीत	(कविताएँ)
	भानुसिंह ठाकुरेर पदावली	(कविताएँ, ब्रजबुलि में)
१८८५ :	राममोहन राय	(निबन्ध)
	आलोचना	(निबन्ध)
	रविछाया	(गीत-संग्रह)
१८८६ :	कड़ि ओ कोमल	(कविताएँ)
१८८७ :	राजर्षि	(उपन्यास)
	चिठिपत्र	(गद्य, बिन्ध)

१८८८ :	समालोचना	(निबन्ध)
	मायार खेला	(संगीत नाटक)
१८८६ :	राजा ओ रानी	(पद्य नाटक)
१८६० :	विसर्जन	(,, ,,)
	मंत्री अभिषेक	(निबन्ध)
	मानसी	(कविताएँ)
१८६१ :	योरप यात्रीर डायरी–खंड १	(निबन्ध)
१८६२ :	चित्रांगदा	(पद्य नाटक)
	गोड़ाय गलद	(गद्य नाटक)
१८६३ :	गानेर बही ओ वाल्मीकि प्रतिभा	(गीत-संग्रह)
	योरप यात्रीर डायरी–खंड २	(निबन्ध)
१८६४ :	सोनार तरी	(कविताएँ)
	छोटो गल्प	(कहानियाँ)
	चित्रागंदा ओ विदाय अभि-शाप	(नाटक)
	विचित्र गल्प, भाग १–२	(कहानियाँ)
	कथा-चतुष्टय	(कहानियाँ)
१८६५ :	गल्प-दशक	(कहानियाँ)
१८६६ :	नदी	(लम्बी कविता)
	चित्रा	(कविताएँ)
	संस्कृत शिक्षा, भाग १–२	
	काव्य ग्रंथावली	
१८६७ :	बैकुन्ठेर खाता	(गद्य नाटक)
	पंचभूत	(निबंध)
१८६६ :	कणिका	(कविताएँ)
१६०० :	कथा	(कवितायें)

१६०० :	ब्रह्मोपनिषद	(निबंध)
	काहिनी	(कवितायें और लघु पद्य नाटक)
	कल्पना	(कवितायें)
	क्षणिका	(कवितायें)
	गल्प-गुच्छ	(कहानियाँ)
१६०१ :	ब्रह्म-मंत्र	(निबंध)
	नैवेद्य	(कवितायें)
	औपनिषद ब्रह्म	(ब्रह्मोपनिषद का संशोधित रूप)
	बांगला क्रियापदेर तालिका	(पुस्तिका)
१६०३ :	चोखेर बालि	(उपन्यास)
	कर्मफल	(कहानी)
	काव्य-ग्रंथ	(कविता और पद्य-नाटकों का संग्रह नौ खंडों में)
१६०३-४ :	इङ्गरेजि सोपान	(पाठच-पुस्तक)
	स्वदेशी समाज	(पुस्तिका)
	रवीन्द्र-ग्रंथावली	
	शिवाजी उत्सव	(कविता)
१६०५ :	स्वदेश	(राष्ट्रीय कवितायें)
	बाउल	(राष्ट्रीय कवितायें)
	विजया-सम्मिलन	(राजनीतिक निबंध)
१६०६ :	आत्मशक्ति	(राजनीतिक निबन्धावली)
	भारतवर्ष	(राजनीतिक निबन्धावली)
	राजभक्ति	(राजनीतिक निबन्ध)
	देशनायक	(राजनीतिक निबन्ध)
	खेया	(कवितायें)
	नौका-डुबि	(उपन्यास)
१६०७ :	विचित्र प्रबंध	(विविध निबन्धावली)

	चरित्रपूजा	(जीवनी निबन्धावली)
	प्राचीन साहित्य	(साहित्य निबन्धावली)
	लोक साहित्य	(साहित्य निबन्धावली)
	साहित्य	(साहित्य निबन्धावली)
	आधुनिक साहित्य	(साहित्य निबन्धावली)
	हास्य-कौतुक	(हास्य रसात्मक रेखाचित्र)
	व्यंग-कौतुक	(,, ,,)
१९०८ :	प्रजापतिर निर्वन्ध	(उपन्यास—चिरकुमार सभा का संशोधित रूप)
	सभापतिर अभिभाषण	(वंगाल प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन, पावना में सभापति का भाषण)
	प्रहसन	(गोड़ाय गलद और वैकुन्ठेर खाता एक खंड में)
	राजा-प्रजा	(राजनीतिक निवन्धावली)
	समूह	(,, ,,)
	स्वदेश	(,, ,,)
	समाज	(सामाजिक निवन्धावली)
	कथा ओ काहिनी	(कवितायें)
	शारदोत्सव	(नाटक)
	गान	(गाने)
	शिक्षा	(शिक्षा निबन्धावली)
	मुकुट	(नाटक, बच्चों के लिये)
१९०९ :	शब्दतत्व	(बंगला भाषा तत्व निबन्धावली)
	धर्म	(धर्म निबन्धावली)
	शान्तिनिकेतन, १-८	(प्रवचन)
	इङ्गरेजी पाठ, १	(पाठच-पुस्तक)
	शिशु	(कवितायें)

	चयनिका	(काव्य-संग्रह)
	छुटिर पड़ा	(पाठ्य-पुस्तक)
	प्रायश्चित्त	(नाटक, वउठाकुरानीर हाट पर आधारित)
१६१० :	राजा	(गद्य-नाटक)
	शान्तिनिकेतन, ६-११	
	गोरा, १ और २	(उपन्यास)
	गीतिलिपि १,२,३	(गाने, स्वर लिपि के साथ)
	गीताञ्जलि	(गाने)
१६११ :	शान्तिनिकेतन, भाग १२	
	गीतिलिपि, ४-६	
१६१२ :	डाक-घर	(गद्य नाटक)
	धर्म-शिक्षा	(निबन्ध, धार्मिक शिक्षा पर)
	धर्मेर अधिकार	(निवन्ध, धर्म पर)
	शान्तिनिकेतन, भाग १३	
	'आटटी गल्प	(छोटी कहानियाँ, वच्चों के लिये)
	गल्प चारिटि	(कहानियाँ)
	जीवनस्मृति	(संस्मरण)
	छिन्नपत्र	(चिट्ठियाँ)
	अचलायतन	(गद्य नाटक)
	पाठ संचय	(पाठ्य-पुस्तक)
१६१४ :	उत्सर्ग	(कवितायें)
	गीतिमाल्य	(गाने)
	गीतालि	(गाने)
	गान	(गाने)
१६१५ :	काव्य-ग्रंथ	(दस खंडोंमें नाटकों और कविताओं का संग्रह)
	गल्प-सप्तक	(छोटी कहानियाँ)

१९१६ :	चतुरंग	(उपन्यास)
	फाल्गुनी	(नाटक)
	घरे-बाइरे	(उपन्यास)
	बलाका	(कवितायें)
	परिचय	(निबन्धावली)
	संचय	(नबन्धावली)
१९१७ :	कर्त्तार इच्छाय कर्म	(राजनीतिक भाषण)
	गान	(गाने)
	धर्म संगीत	(गाने)
	गीत लेखा	(गाने, स्वरलिपि के साथ)
	अनुवाद-चर्चा	(पाठ्य-पुस्तक)
१९१९ :	वैतालिक	(गाने, स्वरलिपि के साथ)
	गीति-वीथिका	(गाने, स्वरलिपि के साथ)
	केतकि	(गाने, स्वर लिपि के साथ)
	जापान यात्री	(सफर का रोजनामचा)
	काव्य-गीति	
१९२० :	रूप रतन	(नाटक)
	गीत लेखा, २	(गाने, स्वर लिपि के साथ)
	पयला नम्बर	(छोटी कहानियाँ)
१९२१ :	ऋण शोध	(नाटक)
	शिशु भोलानाथ	(शिशु कवितायें)
	शिक्षार मिलन	(राजनीतिक निबन्ध)
	सत्येर आह्वान	(पुसतिका)
१९२२ :	मुक्तधारा	(नाटक)
	वर्षा-मंगल	(गाने)
	लिपिका	(गद्य रेखाचित्र)
१९२३ :	वसंत	(संगीत नाटक)
	नव गीतिका १-२	(गाने, स्वर लिपि के साथ)

१९२५ :	मायार खेला	(गाने, स्वर लिपि के साथ)
	पुरबी	(कवितायें)
	संकलन	(गद्य संकलन)
	गृह-प्रवेश	(नाटक)
	प्रवाहिनी	
	देशेर काज	(भाषण)
	वर्षामंगल	(गाने)
	शेषवर्षण	(गीत संकलन)
	गीति चर्चा	
१९२६ :	आचार्येर अभिभाषण	(भाषण)
	शोध-बोध	(नाटक)
	रक्त करबी	(नाटक)
	नटीर पूजा	(नाटक)
	ऋतु उत्सव	(ऋतु उत्सव नाटक संग्रह)
	संगीत गीताञ्जलि	(नागरी लिपि में गानों का संग्रह)
	गीतिमालिका, १	(गाने, स्वर लिपि के साथ)
१९२७ :	लेखन	(कवितायें)
	ऋतु-रंग	(गीति नाटक)
१९२८ :	शेषरक्षा	(गद्य नाटक)
	पल्ली प्रकृति	(भाषण)
	वाल्मीकि प्रतिभा	(गाने, स्वर-लिपि के साथ)
१९२९ :	समवाय नीति	(भाषण)
	परित्त्राण	(नाटक, प्रायश्चित्तका संशोधित रूप)
	यात्री	(भ्रमण)
	योगायोग	(उपन्यास)
	वर्षा-मंगल	(गाने)
	शेषेर कविता	(उपन्यास)

	तपती	(गद्य नाटक, राजा व रानी पर आधारित)
	महुआ	(कवितायें)
१९३० :	गीतिमालिका, २	(गाने, स्वर-लिपि के सथ)
	भानुसिंहेर पत्रावली	(चिट्ठियाँ)
१९३१ :	नवीन	(गीति नाटक)
	पाठ-परिचय २,३ और ४	(पाठ्य-पुस्तक)
	सहज पाठ, १ और २	(बँगला-पाठ)
	राशियार चिठि	(चिट्ठियाँ)
	गीतोत्सव	(संगीत कार्यक्रम, नये गानों के साथ)
	गीतवितान १ और २	(११२८ गानों का संग्रह, कालानुक्रमिक सजाया हुआ)
	बनवाणी	(गाने और कवितायें)
	संचयिता	(कविता-संग्रह)
	प्रतिभाषण	
	शाप मोचन	(गीति नाटक)
१९३२ :	गीतवितान, ३	(३५७ गाने का संग्रह)
	परिशेष	(कवितायें)
	कालेर-यात्रा	(दो लघु नाटक)
	पुनश्च	(गद्य कवितायें)
१९३३ :	दुइ बोन	(उपन्यास)
	विश्वविद्यालयेर रूप	(भाषण)
	शिक्षार विकिरण	(भाषण)
	मानुषेर धर्म	(भाषण)
	चन्डालिका	(नाटक)
	तासेर देश	(नाटक)
	बाँसुरी	(नाटक)

	विचित्रा	(३१ कवितायें, कवि द्वारा ३१ चित्रों के साथ)
	भारत पथिक राममोहन	(निवन्धावली)
१९३४ :	मालंच	(उपन्यास)
	श्रावण गाथा	(वर्षा-गान)
	चार अध्याय.	(नाटक)
१९३५ :	शेष सप्तक	(कवितायें)
	बीथिका	(कवितायें)
	स्वरवितान, १	(५० गानों की स्वर-लिपि)
	रूप रतन	(संशोधित संस्करण)
१९३६ :	शिक्षा स्वांगीकरन	(निबंध)
	नृत्य-नाटच चित्रांगदा	(उपर्युक्त नाटक का संगीतात्मक रूप)
	नृत्य-नाटच चित्रांगदार स्वर लिपि	(उपर्युक्त की स्वर-लिपि)
	पंच-भूत	(संशोधित संस्करण)
	प्राकृतिक	(भाषण)
	पत्र पूट	(गद्य कवितायें)
	छन्दा	(निबन्ध)
	श्यामली	(गद्य कवितायें)
	साहित्येर पथे	(साहित्य निबन्धावली)
	पाश्चात्य-भ्रमण	(योरप प्रवासीर पत्र १८८२ और योरप यात्रीर डायरी १८९३ का संशोधित संस्करण)
	विचित्र प्रबन्ध	(संशोधित संस्करण)
	स्वर-वितान, २	(५० गाने स्वर-लिपि के साथ)
	बांगला शब्द तत्व	(संशोधित संस्करण)
१९३७ :	खाप छाड़ा	(हास्य रस की कवितायें)
	से	(कहानियाँ)

	जापाने ओ पारसे	(भ्रमण)
	कालान्तर	(सामाजिक-राजनीतिक निबंधावली)
	विश्व-परिचय	(विज्ञान परिचय)
	छड़ा ओ छवि	(कवितायें, सचित्र)
	प्रान्तिक	(कवितायें)
१९३८ :	स्वरवितान, ३	(गाने, स्वर-लिपि के साथ)
	पथे ओ पथेर प्रान्ते	(चिट्ठियाँ)
	सेंजुति	(कवितायें)
	बांगला-भाषा-परिचय	
	प्रहासिनी	(हास्य रस की कविताय)
	अभिभाषण	(पुस्तिका)
	समाज	(संशोधित संस्करण)
	गीतवितान, १	(विषयानुक्रम से सजाये ६७३ गाने)
१९३९ :	गीतवितान, २	(८३५ गाने)
	नृत्य-नाट्य चंडालिका	(संगीत नाटक, स्वरलिपि के साथ)
	आकाश-प्रदीप	(कवितायें)
	नृत्य-नाट्य श्यामा	(कथा ओ काहिनी के 'परिशोध' के आधार पर संगीत नाटक, स्वर-लिपि के साथ)
	पथेर संचय	(चिट्ठियाँ)
	अभिभाषण	(पुस्तिका)
	रवीन्द्रनाथेर वाणी	(भाषण)
	प्रसाद	(पुस्तिका)
	रवीन्द्र रचनावली, १-२	(ग्रंथ संग्रह)
	अन्तर्देवता	(पुस्तिका)
१९४० :	स्वरवितान, ४	(गाने, स्वर-लिपि के साथ)
	नव जातक	(कवितायें)

	सानाई	(कवितायें)
	चित्रलिपि	(चित्र-संग्रह)
	छेले-वेला	(संस्मरण)
	तिन संगी	(तीन छोटी कहानियाँ)
	रोग शय्याय	(कवितायें)
	रवीन्द्र रचनावली, ३-५	
	रवीन्द्र रचनावली, अचलित संग्रह, खंड १	
१९४१ :	आरोग्य	(कवितायें)
	जन्मदिने	(कवितायें)
	गल्पसल्प	(छोटी कहानियाँ)
	सभ्यतार संकट	(भाषण)
	रवीन्द्र रचनावली, ६, ७	

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

ज्ञानवापी, पो० बक्स नं० ७०

बनारस

मूल्य : साढ़े पन्द्रह आना

मु०—विद्यामन्दिर प्रेस लि०, मानमन्दिर, बनारस।

रवीन्द्र कविता कानन

निराला